साधना

विद्यानन्द 'विदेह'

वेद-संस्थान, अजमेर

प्रथम संस्करण : २०००
द्वितीय संस्करण : २०००

एक रुपया

प्रकाशक : वेद-संस्थान, अजमेर
मुद्रक : आदित्य मुद्रणालय, अजमेर

मेरी साधना

मद्रचित "साधना" का प्रथम संस्करण १९५८ ई० के अन्त में प्रकाशित हुआ था और अब १९६१ के अन्त में उसका द्वितीय संस्करण प्रकाशित होरहा है। इस लघु ग्रन्थ ने योग-पथ के पथिकों की जो ठोस सेवा की है, उसपर मुझे आत्मसन्तोष है। इस ग्रन्थ से राजयोग का राजपथ प्रशस्त हुआ है। अनेक योगाभ्यासियों ने इसके द्वारा योगाभ्यास में सफलता प्राप्त की है। योगियों ने इसे योगविषयक ग्रन्थों में सर्वातिशय सरल, सुगम, स्पष्ट और अभ्यासगम्य बताया है। एतदर्थ मैं परम पावन प्रभु को आत्मना धन्यवाद देता हूं।

उसकी एक एक देन पर स्तुति अनेकानेक।
वाणी एक विदेह की उसकी देन अनेक॥

मेरी इस "साधना" में योग की जितनी मंज़िल तय करायी गयी है, उससे आगे भी अभी एक और मंज़िल है, जिसका नाम है परम योग। इस साधना में राजयोग का सरलीकरण किया गया है। उसमें परम योग का सरलीकरण किया जायेगा और उस ग्रन्थ का नाम भी "परम योग" होगा। समय के अभाव के कारण उसके प्रकाशन में अभी काफ़ी विलम्ब होने की सम्भावना है। सम्भव है प्रथम सविता में तद्विषयक लेख-माला प्रकाशित करके तदुपरान्त उसे पुस्तकाकार कराया जाये।

"साधना" में व्यायाम तथा प्राणायाम पर जो कुछ लिखा गया है, वह संक्षेप में है। अभ्यासियों का आग्रह था कि इन दो

विषयों पर एक पृथक् ग्रन्थ लिखा जाये, जिससे स्वास्थ्य और सौन्दर्य का सम्पादन करके निर्बाधता के साथ योगमार्ग पर तीव्रता के साथ आगे बढ़ा जा सके। निस्सन्देह स्वास्थ्य और सौन्दर्य योगाभ्यास का मेरु-दण्ड है। प्रथम स्वास्थ्य और सौन्दर्य और फिर योगाभ्यास-योगक्षेत्र का यह स्वर्णिम योगसूत्र है।

स्वास्थ्य और सौन्दर्य की प्रस्थापना के लिये मैंने हाल ही में "स्वास्थ्य और सौन्दर्य" नामक पुस्तक की रचना की है। उसमें व्यायाम तथा प्राणायाम पर भी पूर्ण प्रकाश डाला गया है। पद्धति अतिशय सरल है। न केवल योगाभ्यासी, अपि तु जन-साधारण भी, बाल वृद्ध युवक सब, इसके आश्रय से सुस्थिर स्वास्थ्य तथा सौन्दर्य सम्पादन कर सकते हैं। प्रभु की ऐसी कृपा हो कि मनुष्य मात्र इससे स्वस्थ और सुन्दर होजाये।

"साधना" का अंग्रेजी में अनुवाद किया जा चुका है। साधन उपलब्ध होते ही उसे प्रकाशित कर दिया जायेगा।

—विद्यानन्द विदेह

विषय-क्रम

विषय-क्रम

: १ :

प्राक्कथन

साधना के लिये क्षेत्र अनेक और असंख्य हैं और प्रत्येक क्षेत्र में अमित साधना की आवश्यकता है। समस्त भूमण्डल पर, समग्र प्रदेशों में, मानव जाति आकुल, व्याकुल, व्यथित, व्यग्र और किंकर्तव्यविमूढ़ हो रही है। वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय और अन्तर्राष्ट्रीय अनेक समस्यायें युगों से समाधान की प्रतीक्षा में जटिल से जटिलतर होती जा रही हैं। तथाकथित धार्मिक, आर्थिक और राष्ट्रीय गुत्थियां दिन प्रति दिन दृढ़ से दृढ़तर होती चली जा रही हैं। रहन-सहन की स्तरोन्नति के नाम पर मानव की जटिलतायें जटिलतर हो रही हैं। विज्ञान की बीभत्स सम्भावनाओं ने स्वयं मानव के अस्तित्व को ही शंकास्पद बना दिया है। नैतिक उलझनों ने मानव-समाजको सर्वातिशय उलझाया हुआ है। विश्वमानव की मानवता का केन्द्रबिन्दु सर्वथा लुप्त हो जाने से अखण्ड विश्वकौटुम्ब्य का आधार ही नष्ट हो चुका है।

आस्तिकता, धार्मिकता, पवित्राहार, पवित्र विचार, शुद्धाचार, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, प्राणीसेवा, सहानुभूति, परोपकार, ऋजुता, संयम, योगाभ्यास, सुदाम्पत्य [Chastity] आज या तो आडम्बर के विषय बने हुए हैं या उपहास के। राजनीति में सत्य और

अहिंसा के प्रवेश का सुख-स्वप्न अभी तक स्वप्न ही बना हुआ है। सार्वभौमिकता और सर्वसुधार की उद्घोषक सभी धार्मिक संस्थाओं में राजनीतिक संस्थाओं से भी अधिक छल, कपट, भ्रष्टाचार, धोखा, ईर्ष्या, द्वेष, घातपात, हिंसा और स्वार्थपरता व्यापे हुए हैं। सारे ही संसार में धार्मिक तथा राजनीतिक संस्थाओं की अवस्था व्यापारात्मक है। दोनों ही प्रकार की संस्थाओं में संख्यावृद्धि की होड़ तो है, किन्तु मानव में मानवता की स्थापना की साध कहीं नहीं है। उभय संस्थाओं का लक्ष्य येन केन प्रकारेण धन जन का संग्रह और निहित स्वार्थों की सिद्धि-मात्र है, यद्यपि बाहर से राजनीतिक संस्थायें अपनी आदर्शवादिताओं [Ideologies] का तथा धार्मिक संस्थायें अपने-अपने सिद्धान्तों और मन्तव्यों का ढिंढोरा पीटती रहती हैं।

सब ओर स्वर्ग नरक में परिणत हो चुके हैं। नरकों को पुनः स्वर्ग में परिणत करने के लिये साधकों के निर्माण की आवश्यकता है, ऐसे साधनाशील साधकों की, जो आत्मबोध से प्रबुद्ध और आत्मोत्सर्ग की भावना से ओतप्रोत हों। स्वस्थ, सिद्ध, समाहित साधकों के अतिरिक्त अन्य किसी से इस साध की सिद्धि नितान्त असम्भव है।

आत्मबोध और आत्मोत्सर्ग का प्रयोग यहां जान बूझ कर किया गया है। जहां आत्मबोध नहीं है, वहां आत्मोत्सर्ग हो ही नहीं सकता। और आत्मोत्सर्ग के बिना विश्व का स्वर्गोपम नवनिर्माण प्रत्यक्षतः अशक्य और असम्भव है। जिसे आत्मबोध नहीं, जिसने आत्म-स्थिति वा आत्म-अवस्थिति

का सम्पादन नहीं किया, जिसने अपने आपको नहीं पहंचाना, जिसकी अपने आप में स्थिति नहीं है, उसके सब कार्य अयुक्त सिद्ध होंगे। आत्म-अवस्थित होकर जिसने प्राणी-मात्र में आत्मा का दर्शन नहीं किया है, वह प्राणी-मात्र की वास्तविक सेवा कर ही नहीं सकता। आत्मज्ञ ही सबमें सर्वव्यापक ब्रह्म का साक्षात्कार करेगा। आत्मप्रबुद्ध ही समस्त समस्याओं को उनके वास्तविक स्वरूप में समझ सकेगा। आत्मस्थ ही सब उलझनों को सुलझा सकेगा। आत्मवित् ही सर्वथा अनायास और निर्लेप रहकर आत्मोत्सर्ग कर सकेगा।

आत्मसाधना अन्य सब साधनाओं का मूलाधार है। आत्मसाधना-सम्पन्न साधक ही प्रत्येक क्षेत्र में निरन्तर सत्य, शिव और सुन्दर की सफल साधना कर सकेंगे। वे ही समस्त उलझनों को सुलझाकर, सब दुरितों को हटाकर, भू पर आत्म-राज्य की स्थापना करके, समस्त भूमण्डल पर उस स्वर्णिम स्वर्ग का निर्माण कर सकेंगे, जिसके लिये त्रस्त मानव के नेत्र अधीर हो रहे हैं, जिसके लिये विकल मानवता का मानस आकुल हो रहा है।

: २ :

समयपालन

साधना सम्बन्धी अभ्यास व व्यवस्था में तनिक भी अनावश्यक विलम्ब न किया जाना चाहिये। **समय कभी किसी की प्रतीक्षा नहीं करता है। जो समय की उपेक्षा करता है, वह स्वयं संसार में सदा उपेक्षित रहता है।** जो समय का मूल्य समझकर एक क्षण भी वृथा नहीं खोते, वे साधना के उत्कृष्ट सोपान पर चढ़ते हुए चरम लक्ष्य को प्राप्त करते हैं और जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में सिद्धि, साफल्य और विजय सम्पादन करते हैं।

समयपालन साधना का मेरुदण्ड है। समयपालन के अभ्यास के बिना साधना का अन्य कोई अभ्यास चल ही नहीं सकता।

समयपालन साधनावृक्ष का मूल है। जिस प्रकार बिना मूल के वृक्ष की न स्थिति रह सकती है, न वह हरा-भरा रह सकता है, न उस पर फल ही लगते हैं, उसी प्रकार समयपालन के सदभ्यास के बिना साधनावृक्ष न पल्लवित हो पाता है, न फलप्रद होता है।

समयपालन के आधार पर ही साधना की वह भित्तियां खड़ी की जा सकेंगी, जिन पर समुदात्त जीवन का सुविशाल भवन निर्माण किया जाना है।

अपने दैनिक जीवन के चौबीसों घण्टों का, मिनिटशः नहीं, सैकिण्डशः नहीं, निमेषशः समय-विभाग बनाइये और उसे निष्ठापूर्वक कठोरता के साथ कार्यान्वित कीजिये। आकस्मिक कार्यों के लिये आपके दैनिक समयविभाग तथा कार्यक्रम में परिवर्तन का होना स्वाभाविक है। किन्तु वह परिवर्तन आवश्यकतानुसार ही होना चाहिये।

प्रत्येक साधक का दैनिक कार्यक्रम तथा समयविभाग उसकी अपनी अवस्था, स्थिति तथा परिस्थितियों के अनुसार निर्धारित होगा। सामान्यतः निम्न पुरोगम अतिशय वैज्ञानिक तथा उपयोगी है:—

(१) रात्रि १० से प्रातः ४ बजे तक शयन।

(२) प्रातः ४ से ५ बजे तक ध्यान।

(३) प्रातः ५ से ८ बजे तक शौच, स्नान, भ्रमण, नित्यकर्म, व्यायाम, प्राणायाम, स्वाध्याय, समाचारपत्रावलोकन, प्रातराश।

(४) प्रातः ८ से सायं ६ बजे तक व्यापार, व्यवसाय, भोजन, विश्राम, अध्ययन, खेल आदि।

(५) सायं ६ से रात्रि ९ बजे तक शौच, स्नान, ध्यान, भोजन, विहार, मिलना-जुलना।

(६) रात्रि ९ से ९-४० बजे तक पारिवारिक सत्सङ्ग, जिसमें सम्मिलित ध्यान, जाप, प्रार्थना, गान, पाठ, कथा, स्वाध्याय व शान्तिपाठ हो।

(७) रात्रि ९-४० से १० बजे तक व्यक्तिशः आत्मचिन्तन, शयन।

समयपालन के मार्ग में ५ बाधायें हैं, जिन पर विजय पाने से समय का पालन सरल हो जाता है।

प्रथम बाधा है जल्पि [गप-शप, बकवास, वाचालता]। बातें करने के लिये बातें न कीजिये। आवश्यकता होने पर ही बातचीत कीजिये और आवश्यक बातें ही कीजिये। आवश्यक बातें हो चुकने पर अविलम्ब विदा लीजिये।

दूसरी बाधा है अनावश्यक भेंटें [मुलाक़ातें]। केवल मिलने के लिये किसी के पास न जाइये। इससे जहां आप अपना समय नष्ट करते हैं, वहां दूसरों का भी करते हैं। आवश्यक कार्य के लिये ही मिलने जाइये, पूर्व निश्चित समय पर ही मिलने जाइये और आवश्यकता से अधिक समय न लगाइये।

तीसरी बाधा है प्रमाद। प्रमाद को अपने पास न फटकने दीजिये। प्रमादी समयित और नियमित रहने में अपने को सदा असमर्थ पाता है। अवसर और अवकाश उपलब्ध होने पर भी प्रमादी यथासमय और यथाक्रम कुछ भी नहीं कर पाता है। साधक को प्रमाद से सदा सर्वदा मुक्त रहना चाहिये।

चौथी बाधा है पर्यटन। निरुद्देश्य इधर उधर घूमना फिरना बहुत बुरी बात हैं। प्रत्यक्षतः ऐसा करने से समय की बहुत हानि होती है।

पांचवीं बाधा है संकोच। ध्यान का समय है। उसी समय कोई मित्र मिलने चले आते हैं। आप संकोचवश उनके साथ बातचीत कर रहे हैं और ध्यान के समय का अतिक्रमण हो

रहा है। आप शालीन शब्दों में उन्हें सूचित कर दीजिये कि यह आपके ध्यान का समय है। शयन के समय आपके मित्र आकर आपसे वार्तालाप करने लगते हैं। आप हैं कि संकोच के कारण न चाहते हुए भी अपने शयन के समय का अतिक्रमण कर रहे हैं। ऐसा कदापि न कीजिये। अपने मित्र से निवेदन कीजिये, "महाशय, क्षमा करें, यह मेरे शयन का समय है।" आपके मित्र प्रसन्नता के साथ विदा हो जायेंगे।

जब तक समयपालन का अभ्यास पक्का न हो जाये, तब तक शयन से पूर्व नित्य विचारकर देखिये कि आपने आज जल्पि, भेंट, प्रमाद, पर्यटन और संकोच के कारण समय-भंग तो नहीं किया है। यदि किया है तो उसके लिये पश्चात्ताप कीजिये और भविष्य में ऐसा न करने का संकल्प कीजिये।

शयन से पूर्व नित्य दैनिकीय [डायरी] लिखिये और प्रति दिन समयपालन के विषय में अङ्कित कीजिये—

"सब कार्य यथासमय, यथाक्रम और पूर्व निश्चित पुरोगम के अनुसार किये गये।"

यदि समयपालन में शिथिलता हुई है तो लिखिये—
"अमुक अमुक कारणों से इतना इतना समय व्यर्थ गया। शोक और लज्जा की बात है। अब ऐसा कदापि न करूंगा।"

समय का पालन जब आपका स्वभाव बन जाये, तब आप विश्वास कर सकते हैं कि आपके लिये साधना का मार्ग सर्वथा प्रशस्त हो गया है।

: ३ :

साध्य, साधना और साधन

साध्य और साधना का अनिवार्य सम्बन्ध है। साध्य की सिद्धि के लिये ही साधना की जाती है। जहां साध्य नहीं होता, वहां साधना नहीं होती। न साध्य के बिना साधना होती है, न साधना के बिना साध्य की सिद्धि होती हैं। साध्य को दृष्टि में रखकर ही साधना का मार्ग प्रशस्त होता है। साध्य के अनुरूप ही साधना होती है और साधना के अनुसार ही साधन होते हैं। साध्य की सिद्धि के लिये साधनों का उपयोग करते हुए जो साधना करता है वह साधक है।

साध्य क्या है ?

मनुष्य कहता है, "मेरा साध्य धन है, मैं धन की साधना करता हूं, मैं धन का साधक हूं, व्यापार व्यवसाय या नौकरी मेरे साध्य का साधन है।" जब पूछा जाता है, "धन किस लिये ?" तो वह कहता है, "मेरे और मेरे परिवार के सुख के लिये।" साध्य साधन बन गया। यदि धन से दुःख मिलता है, तो मनुष्य धन को त्याग देता है। धन के बिना सुखी रह सकता है तो वह धन नहीं चाहता। धन साध्य नहीं है, साध्य तो सुख है।

धन, राज्य, मान, पद, प्रतिष्ठा, भवन, यान, विज्ञान [science], यौवन, पति, कलत्र, मित्र आदि का सम्पादन और

उपभोग प्रत्येक व्यक्ति सुख के लिये ही करता है।

सुख क्या है?

सुख = सु + ख = सु + इन्द्रिय = शोभन स्वस्थ इन्द्रियसमूह = शोभन स्वस्थ शरीर। सुख नाम शरीर की स्वस्थता और सुविधा का है। सब जो शरीर की स्वस्थता और सुविधा से सम्बन्ध रखता है, सुख है। उपर्युक्त सब वस्तुयें सुखसाधन हैं, सुख नहीं।

समय आता है, जब मनुष्य इन सब सुख-साधनों से ऊब जाता है और कहने लगता है, "इन सुखसाधनों से सुख तो मिला, पर शान्ति नहीं मिली।" शान्ति प्राप्त करने के लिए वह अब सब सुखसाधनों से उपराम [retire] होना चाहता है। साध्य परिवर्तित होगया। वह केवल सुख नहीं चाहता, शान्ति भी चाहता है। सुख के साथ शान्ति भी चाहिये।

शान्ति क्या है?

मन की स्वस्थता, सुस्थिरता अथवा प्रसन्नता का नाम शान्ति है।

सुख का सम्बन्ध शरीर से है और शान्ति का सम्बन्ध मन से है। शरीर के सुख और मन की शान्ति का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। शरीर की अस्वस्थता से मन अशान्त हो जाता है और मन की अशान्ति से शरीर अस्वस्थ। शरीर की स्वस्थता अस्वस्थता का मन की अवस्था पर प्रभाव पड़ता है और मन की शान्ति अशान्ति का शरीर के स्वास्थ्य पर प्रभाव पड़ता है। साध्य न केवल सुख है, न केवल शान्ति। साध्य है सुख और शान्ति।

शरीर से सुखी और मन से शान्त रहने पर भी मनुष्य एक न्यूनता सी अथवा एक अभाव सा अनुभव करता है। शरीर और मन दोनों ही भौतिक हैं। भौतिक होने के कारण शरीर और मन परिणामी हैं। परिणामी की स्थिति और अवस्था में निर्बाधता और सततता नहीं हो सकती। सब सुनियमों का पालन करते और सब प्रकार की सावधानी वर्तते रहने पर भी घटनाचक्रों, प्राकृत कारणों तथा ऋत्वभिसन्धानों से शरीर के सुख और मन की शान्ति में व्यवधान आते रहना अवश्यम्भावी है। आयु, अवस्था, साधन, देश और काल के परिवर्तनों से शरीर और मन पर सु और कु, बुरा और भला, अनुकूल और प्रतिकूल, प्रभाव पड़ता ही है और तदनुसार शारीरिक व मानसिक परिणाम भी होते ही हैं। सुख और दुःख के चक्र में चक्राते चक्राते, शान्ति और अशान्ति के झूले में झूलते झूलते, सु और कु के परिणामों में अदलते बदलते, मनुष्य छटपटाने लगता है एक ऐसी अवस्था के लिये, जो सु कु, सुख दुःख, शान्ति अशान्ति, परिणाम परिवर्तन, हर्ष विषाद आदि द्वन्द्वों से रहित और ऊपर हो, जिसमें निर्बाधता हो, जो सतत हो।

उस द्वन्द्वातीत निर्बाध सतत अवस्था का नाम है आनन्द। आनन्द का सम्बन्ध आत्मा से है। जिस प्रकार सुख शरीर का विषय है, शान्ति मन का विषय है, उसी प्रकार आनन्द आत्मा का विषय है। जिस प्रकार शरीर की नीरोगता और स्वस्थता से सुख की प्राप्ति होती है, मन के निश्चिन्त चिन्तारहित होने से शान्ति की उपलब्धि होती है, वैसे ही जब आत्मा अनासक्त, निर्लेप, स्व-रूप में अवस्थित, सम और समाहित होकर आनन्दस्वरूप आनन्दघन ब्रह्म में स्थित होता

है, तब उसे निर्बाध सतत आनन्द की सिद्धि होती है। आनन्द की सिद्धि होने पर मनुष्य आप्तकाम सततानन्दी हो जाता है। फिर शरीर और मन की परिणामी अवस्थायें उसकी निर्बाध सतत समावस्था में कभी कोई व्यवधान उपस्थित नहीं कर पातीं। इस आनन्दावस्था में आत्मा जीवनमुक्त विदेह रहता है और इस आनन्दावस्था में ही देह त्यागने पर आत्मा पुनः देह को प्राप्त नहीं होता है।

सुख और शान्ति, शारीर्रिक और मानसिक स्वस्ति, आनन्दावस्था की प्राप्ति में अतिशय सहायक हैं। अतः सुख और शान्ति उपेक्षणीय नहीं है, अपेक्षणीय हैं। सुख और शान्ति अथवा शारीरिक व मानसिक स्वस्ति की स्थापना के बिना आनन्दावस्था की प्रस्थापना सर्वथा असम्भव नहीं तो दुःसाध्य अवश्य है। शरीर व मन की स्वस्ति से ही आत्मा की स्वस्ति का सम्पादन होता है। शरीर, मन, आत्मा—तीनों ही की स्वस्ति साध्य है।

जब तक आत्म-अवस्थिति [आनन्दावस्था] का परिपाक नहीं होता, तब तक शरीर और मन की अवस्था का आत्मा पर प्रभाव होता है और आत्मा शरीर व मन की अवस्था के अनुसार सुख दुःख और शान्ति अशान्ति का अनुभव करता है। जब आत्मा की स्वरूप में अवस्थिति और ब्रह्म में समाहिति परिपक्व हो जाती है, तब वह त्रिगुणात्मक शरीर व मन के सु कु प्रभावों से सर्वथा अलिप्त हुआ आनन्द में स्थित रहता है।

अन्तिम अथवा परम साध्य आत्म-अवस्थिति द्वारा आनन्दावस्था की प्राप्ति है। सुख व शान्ति, अथवा शरीर

व मन की स्वस्ति आत्म-अवस्थिति की प्राप्ति के लिये अनिवार्य साधन हैं। शरीर के लिये सुख साध्य है, मन के लिये शान्ति साध्य है, आत्मा के लिये आनन्द साध्य है। शरीर और मन क्योंकि आत्मा के करण हैं, सुख व शान्ति अथवा शरीर व मन की स्वस्ति भी साधनकोटि में आ जाते हैं। चरम साध्य तो आत्मा का आनन्द ही है।

: ४ :

जीवनमुक्त

आत्म-अवस्थिति की सिद्धि होने पर सद्यः आत्म-साक्षात्कार होता है, स्व-रूप का दर्शन होता है। स्व-रूप के दर्शन होने पर आत्म-अवस्थिति की स्थिति अचल, अविचल, अडिग, सतत और स्थिर हो जाती है।

आत्म-अवस्थिति के सिद्ध होते ही ब्रह्म का साक्षात्कार होता है और आत्म-अवस्थिति के स्थिर हो जाने पर ब्रह्म का व्यवधानरहित अनवरत-साक्षात्कार रहने लगता है। आत्म-अवस्थिति और ब्रह्म-साक्षात्कार की स्थिरता निष्पन्न होने पर स्थिर आनन्दावस्था की सिद्धि होती है।

आत्म-अवस्थिति, ब्रह्म-साक्षात्कार और आनन्द की स्थिरता निष्पन्न होने पर आत्मा सर्व द्वन्दों से सर्वथा मुक्त और समस्त आवरणों से नितान्त अनावृत होजाता है। इसी अवस्था का नाम जीवनमुक्त-अवस्था है। वैदेहावस्था भी इसी का नाम है।

जीवनमुक्त अवस्था में भ्रान्ति भय और भोग की तीनों पाशें छिन्न-भिन्न हो जाती हैं, हृदय की सम्पूर्ण ग्रन्थियां खुल जाती हैं, मन के सब संशय दूर हो जाते हैं, बुद्धि की चञ्चलता समाप्त हो जाती है, आधियां व्याधियां उपाधियां विलीन हो जाती हैं, चिन्ता क्लेश निर्मूल हो जाते हैं, कर्मफलसंस्कारजन्य

वासनायें तिरोहित होजाती हैं, विषय भोग दूर भाग जाते हैं, देहस्थ प्रकृति के तीनों गुण तम रज सत् दिव्यता से सञ्चारित हो जाते हैं, जागृति स्वप्न सुषुप्ति तीनों अवस्थाओं में तुर्यास्थता रहती है, काम क्रोध लोभ मोह अहंकार पांचों विकार विनष्ट हो जाते हैं, अविद्या अज्ञान आसक्ति लेप लुप्त हो जाते हैं।

जीवनमुक्त अवस्था में ही प्रत्येक कार्य दिव्यता के साथ सम्पादन किया जाता है। जीवनमुक्त के प्रत्येक कार्य और उसकी प्रत्येक चेष्टा में दिव्यता सन्निहित होती है। जीवन-मुक्त के विचार दिव्य विचार होते हैं। जीवनमुक्त की दृष्टि दिव्य दृष्टि होती है। जीवन मुक्त के वचन दिव्य वचन होते हैं। जीवनमुक्त की भावनायें दिव्य भावनायें होती हैं। जीवनमुक्त के संकल्प दिव्य संकल्प होते हैं। जीवनमुक्त के कर्म दिव्य कर्म होते हैं। जीवनमुक्त का जीवन दिव्य जीवन होता है। जीवनमुक्त संसार को दिव्य संसार बना देता है।

जीवनमुक्त सदा तुर्यावस्था [आत्मजागरण, आत्म-प्रकाश] में विचरता है। जीवनमुक्त का जागरण दिव्य जागरण होता है। जीवनमुक्त के स्वप्न दिव्य स्वप्न होते हैं। जीवनमुक्त की सुषुप्ति दिव्य समाधि होती है। जीवनमुक्त सब कुछ करता हुआ आनन्द के सागर में तैरता रहता है।

जीवनमुक्त यथेच्छ देहसहित रहता है और स्वेच्छा से देह को त्यागकर शाश्वत विदेहानन्द के आनन्द में रमण करता है।

: ५ :

लक्ष्य

साधना का लक्ष्य है आत्म-पूर्णता [self-perfection] के द्वारा सर्व-पूर्णता विश्व-पूर्णता [uni-perfection]। आत्मपूर्णता के बिना विश्व-पूर्णता अथवा सर्वपूर्णता का सम्पादन नहीं हो सकता, कदापि नहीं हो सकता, हो ही नहीं सकता।

आत्मपूर्णता सिद्ध कर लेने पर साधक को आत्मार्थ [अपने लिये] कुछ करना शेष नहीं रहता। इसीलिये आत्मपूर्णतासिद्ध साधक को आप्तकाम, आप्तपुरुष अथवा सिद्धपुरुष कहते हैं। ऐसा पूर्ण पुरुष आत्मना आत्मतुष्ट रहता है, ब्रह्मस्थ हुआ स्वतन्त्र ब्रह्म के ब्रह्माण्ड में विचरता है, प्राणवत् अनायास दिव्यताओं का सञ्चार करता रहता है, अपानवत् सहजतया विश्व का शोधन करता रहता है, सूर्यवत् अपने आवृत पर स्थित रहता हुआ विश्व में प्रकाशता रहता है, मेघवत् निर्लेप रह कर सर्वतः आनन्द की वृष्टि करता हुआ जगत् को सींचता रहता है, आकाशवत् निस्पृह रहकर प्राणीमात्र को अनुप्राणित करता रहता है।

पूर्ण व्यक्तित्व ही संसार में पूर्णता का सम्पादन करते हैं। जो व्यक्ति संसार की समस्त अपूर्णताओं को पूर्णता में परिणत करना चाहते हैं, उनके लिये यह अनिवार्य है कि वे आत्मपूर्णता का सम्पादन करें, अपने जीवनों में पूर्णता लायें,

अपने जीवनों को पूर्ण बनायें। पूर्ण से ही सम्पूर्ण की पूर्णता का सम्पादन होता है। अपूर्ण से अपूर्णता का विस्तार होता है। अपूर्ण पुरुषों द्वारा विश्व को पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जा रहा है, इसीलिये संसार दिनों-दिन अपूर्ण से अपूर्णतर होता चला जा रहा है। जब पूर्ण पुरुष उपलब्ध होंगे, जब साधक साधना द्वारा पूर्ण बनकर विश्व की सुपूर्ति में लगेंगे, तब ही विश्व अपूर्णता से पूर्णता की ओर प्रगमन करेगा। और जब साधनाक्रम से वंशानुवंश पूर्ण पुरुषों की परम्परा प्रस्थापित होगी, तब यह जगत् अपूर्ण से पूर्ण, पूर्णतर और पूर्णतम होता चला जायेगा।

क्या पूर्ण पुरुष परार्थ कर्म करते हैं? परार्थ कर्म, परसेवा अथवा परोपकार शब्द केवल व्यवहार के लिये ही प्रयुक्त होते हैं। वास्तव में परार्थ कर्म न कभी कहीं होता है, न हो सकता है। प्रत्येक कर्म, प्रत्येक चेष्टा, स्वार्थ-आत्मार्थ ही है। अपने लिये जो कर्म किये जाते हैं वे तो स्वार्थ [आत्मार्थ] कर्म हैं ही, अपनों के लिये जो कर्म किये जाते हैं वे भी तो स्वार्थ [आत्मार्थ] ही हैं। स्वार्थ कर्म का अर्थ है स्व-अर्थ कर्म और स्वों [अपनों] के लिये कर्म। प्रत्येक प्राणी का सेवाकार्य अपने या अपनों तक ही सीमित होता है। जहां-जहां और जिन-जिन में प्राणी की स्वकीयता होती है, वहीं-वहीं और उन्हीं-उन्हीं तक उसकी सेवा सीमित होती है। प्रत्येक "मैं", मेरे मित्र, मेरे परिवार, मेरे समाज, मेरे राष्ट्र और मेरे संसार की ही सेवा करती या करता है। प्रत्येक "मैं" स्व की हितसाधना में रत है।

पूर्ण पुरुष का 'मैं' सम्पूर्ण समष्टि में व्याप जाता है। पूर्णता में परता रहती ही नहीं है। पूर्णता सम्पूर्ण की

अपनालेती है। पूर्ण के लिये सब अपने ही हो जाते हैं। पूर्ण के लिये यह एक संसार [भूलोक] ही नहीं, अखिल ब्रह्माण्ड अपना हो जाता है। अतः पूर्ण व्यक्ति की पूर्णता समष्टि की परिपूर्णता की सतत साधना का साधन बन जाती है। किन्तु पूर्ण की यह सतत साधना होती है सर्वथा अनासक्त। पूर्ण पुरुष की पूर्णता सर्वपूर्णतासम्पादनार्थ बन्धनराहित्य के साथ उसी प्रकार क्रियमाण रहती है, जिस प्रकार सुगन्धिपूर्ण पुष्प से सुगन्धि सब ओर अनायास ही प्रस्फुटित होती रहती है और सूर्य से जिस प्रकार उसकी रश्मियां स्वतः ही सब ओर प्रखरित होती हैं।

: ६ :

शरीर–व्यवस्था

साधना प्रारम्भ करने से पूर्व साधक को अपनी जीवन-व्यवस्था पर एक दृष्टि डालना आत्मसाधना के लिये उपादेय होगा।

मानव शरीर संसार की उन रहस्यमय समस्याओं में से एक समस्या है, जिनका पूर्ण परिचय अथवा पूर्ण समाधान वैज्ञानिक अभी तक नहीं कर पाये हैं और मानव-बुद्धि जिनकी पूरी तरह खोज कर पाने में अभी तक असमर्थ रही है। तो भी तत्सम्बन्धी कुछ सामान्य तथ्य ऐसे हैं, जिन्हें निश्चित रूप से जाना जा चुका है।

कोशदृष्टि से शरीर में छः कोश हैं—

(१) अन्नमय कोश, जिसे दूसरे शब्दों में स्थूल-शरीर-संस्थान कह सकते हैं।

(२) प्राणमय कोश।

(३) ज्ञानमय कोश [बुद्धि]।

(४) मनोमय कोश [मन]।

(५) विज्ञानमय कोश [चित्त]।

(६) ज्योतिर्मय कोश। [हृदयाकाश का वह कोश, जहां आत्मा निवास करता है। इसे आत्म-अधिष्ठान भी कहते हैं।] इन्हें ऋ० २-१३-१० के अनुसार 'षड् विस्तिर' अथवा छः विस्तार कहते हैं।

अन्नमय कोश में पांच ज्ञानेन्द्रियां हैं, जिनमें से प्रत्येक का एक-एक ज्ञान [विषय] है। (१) नेत्र का ज्ञान [विषय] दर्शन है, (२) श्रोत्र का श्रवण है, (३) नासिका का वास अथवा गन्ध है, (४) जिह्वा का रस अथवा स्वाद है, (५) त्वचा का स्पर्श है। इन पांच विषयों को ऋ० २-१३-१० के अनुसार 'पञ्च संदृश' कहते हैं।

अन्नमय कोश में ही कर्मेन्द्रियां हैं। (१) मुख, जिसका कर्म है खाना-पीना-बोलना, (२) हस्त [हाथ], जिसका कर्म है तोलना जोड़ना फोड़ना उठाना बनाना फेंकना रखना इत्यादि, (३) उपस्थ [पुरुष-देह में] वा जननेन्द्रिय [स्त्री देह में] जिसका कर्म है मैथुन और मूत्रत्याग, (४) गुदा, जिसका कर्म है मलत्याग, (५) पाद, जिसका कर्म है गमन धावन नयन क्रमण।

कर्मज्ञानेन्द्रियों के अतिरिक्त शिर, वक्ष, फेफड़े, हृदय, आंत, नितम्ब आदि शेष जितने अवयव हैं, वे सब अन्नमय कोश के ही अङ्ग हैं।

यद्यपि मूल तत्त्व, जिससे सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना हुई है, एक है, जिसे कोई परमाणु या प्रकृति कहते हैं, तो कोई शक्ति [Energy] या अणु कहते हैं, किन्तु स्थूलत्व के परिमाण से यह मूल-तत्त्व सृष्टि-अवस्था में पञ्च-तत्त्व के रूप में परिणत हो जाता है, जिन्हें आकाश, अग्नि, वायु, जल और पृथिवी कहते हैं। प्रत्येक शरीर में आकाश (अवकाश) है और आकाश में ही प्रत्येक शरीर स्थित है। अग्नि मुख्यतया जाठर के रूप में स्थित होकर समस्त शरीर में व्यापा रहता है। प्राणापान वायु का प्रतिनिधित्व करते हैं। शरीर में जो रस

है, वह सब जल का ही रूपान्तर है। शेष समस्त भाग शरीर में भूमि का है, जो भोजन के द्वारा सम्पादित होता है।

लोकदृष्टि से प्रत्येक मानव-शरीर में तीन लोक हैं और प्रत्येक लोक में सात विकास-साधन हैं।

(१) शिर से ग्रीवा तक का भाग द्यौ है, जिसमें विचार-शक्ति [बुद्धि], दर्शनशक्ति, श्रवणशक्ति, श्वसनशक्ति, घ्राणशक्ति, भाषणशक्ति तथा आस्वादनशक्ति विकाससाधन हैं।

(२) ग्रीवा से नाभि तक का भाग अन्तरिक्ष लोक है, जिसमें कर्तृत्वशक्ति [हाथ], हृदयस्थ संकल्पशक्ति, चेतना-शक्ति [चित्त], श्रद्धा, निर्भयता, साहस तथा उदरस्थ पाचन-शक्ति [जाठर] विकाससाधन हैं।

(३) नाभि से आपाद पृथिवी लोक है, जिसमें वीर्यरक्षण, मलत्याग, मूत्रत्याग, गमन, धावन, वहन तथा सहन विकास-साधन हैं।

: ७ :

कोशों का अन्तर्गठन

(१) अन्नमय कोश, (२) प्राणमय कोश, (३) ज्ञानमय कोश, (४) मनोमय कोश, (५) विज्ञानमय कोश तथा (६) ज्योतिर्मय कोश का उल्लेख क्रमशः (१) शरीर, (२) प्राण, (३) मस्तिष्क, (४) मन, (५) चित्त और (६) आत्मा के नामों से किया जायेगा।

यद्यपि इन छःओं की अपनी-अपनी पृथक् सत्ता है, किन्तु ये सब एक-दूसरे से ऐसे अन्तर्गठित [interwoven] हैं कि ये प्रति क्षण एक-दूसरे पर अनवरत अपना प्रभाव डालते और परस्पर परिणाम समुत्पन्न करते रहते हैं।

आत्मा का अधिष्ठान हृदयाकाश है। जिस प्रकार सूर्य आकाश में स्थित हुआ अपनी रश्मियों से सम्पूर्ण सौर-मण्डल को प्रेरित और प्रभावित करता है, उसी प्रकार आत्मा शरीर के मध्य हृदयाकाश में स्थित हुआ अपनी रश्मियों से शेष पांचों को प्रेरित व प्रभावित करता रहता है।

प्राण श्वास-प्रश्वास के रूप में आता जाता हुआ, शरीर के कण-कण को अनुप्राणित करता हुआ, शेष पांचों को अनुवेदन तथा संवेदन प्राप्त कराता रहता है।

मन हृत्प्रतिष्ठ [हृदय में स्थित] है। वह एक ओर चित्त और आत्मा को सूचना प्रेषित करता है और दूसरी ओर

बुद्धि, प्राण व शरीर को अनुप्रेरित करता है।

चित्त भी हृदय में स्थित है। वह शरीर, बुद्धि, मन और प्राण से प्राप्त संवेदनों को आत्मा तक पहुंचाता है और आत्मा से प्राप्त आदेशों को इन चारों तक पहुंचाता है।

हृदयाकाश में स्थित आत्मकोश के चारों ओर चित्त की परिधि है। चित्त के चारों ओर मन की परिधि हैं। मस्तिष्क में बुद्धि स्थित है, जो ज्ञानतन्तुओं के द्वारा मन से प्रेरित होती है। प्राण समस्त शरीर में व्यापा हुआ त्वचन [स्पर्शन] द्वारा अनुवेदन और संवेदन करता है। शरीर की सम्पूर्ण चेष्टायें प्राण से प्रेरित होती हैं।

मोहन की जंघा में चींटी ने काटा। काटने की सूचना त्वचा ने मस्तिष्क [बुद्धिसंस्थान] को, मस्तिष्क ने मन को, मन ने चित्त को और चित्त ने आत्मा को दी। आत्मा ने सद्यः आदेश दिया कि दुर्घटना का निरीक्षण व निराकरण किया जाये। यह आदेश प्रथम चित्त को, चित्त से मन को, मन से मस्तिष्क को और मस्तिष्क से नेत्र व हस्त को पहुंचा। नेत्र ने झट निरीक्षण किया और हस्त ने चींटी को पकड़ कर अलग कर दिया।

कार्य विभाजन की दृष्टि से प्रत्येक कोश का अपना-अपना एक पृथक् कार्य है, फिर भी वे सब अन्तर्गठित हुये प्रत्येक कार्य में सबके सब प्रति क्षण अपना अपना योगदान सदा सर्वदा एक साथ करते रहते हैं। किन्तु अभ्यास की शिक्षा के लिये हमें एक-एक कोश अलग अलग लेना पड़ेगा।

: ८ :

अन्नमय कोष-शरीर

शरीर समस्त साधनाओं का आदि साधन है। सब प्रकार के धर्मानुष्ठानों और लोक-परलोक की समस्त साधनाओं का आदि साधन ही नहीं, आदि मूल और मुख्य आधार प्रत्येक मनुष्य का अपना शरीर ही है। शरीर के बिना न आत्मसाधना सम्भव है, न परिवार साधना, न समाजसाधना, न राष्ट्रसाधना, न विश्वसाधना। अतः साधनापथ पर आरूढ़ प्रत्येक साधक के लिये यह परमावश्यक है कि वह अपने शरीर को सदा नीरोग, स्वस्थ, सुदृढ़, सक्षम, सुन्दर और अनुशासित रखे।

सात्त्विक आहार (खान-पान), सात्त्विक विहार, सात्त्विक निद्रा, मिताचार और मनोयोग–नीरोगता के ये पांच अचूक साधन हैं।

खान-पान के लिये सुनिश्चित समय होना चाहिये। प्रातः काल यथाऋतु दुग्ध या छाछ का सेवन नीरोगता के लिये बहुत उपयुक्त है। सायं-भोजन यदि सूर्यास्त से पूर्व किया जाये, तो नीरोगतासम्पादन में जहां बड़ा लाभ होगा, वहां ब्रह्मचर्य की पालना में भी बड़ी सहायता मिलेगी। सूर्यास्त के पश्चात् सिवाय जल के अन्य कुछ भी सेवन न किया जाये तो यावज्जीवन जठराग्नि सुष्ठुतया प्रदीप रहती

है। भोजन के विषय में यह बात सदा स्मरण रखनी चाहिये कि किसी भी पेय (दुग्ध, छाछ, आदि) के सेवन के उपरान्त कम-से-कम एक घण्टे तक दोबारा किसी भी पेय अथवा खाद्य का सेवन न करना चाहिये। एवमेव, एक बार भोजन करने के उपरान्त कम से कम छः घण्टे तक दोबारा भोजन न किया जाये। भोजन के उपरान्त दुग्धादि सेवन करना हो तो भोजन करने के कम से कम तीन घण्टे बाद किया जाये।

भोजन सदा सात्त्विक और ताज़ा हो। यथासम्भव घी, मक्खन, फलों, सागों और सब्ज़ियों का भी सेवन किया जाये। भोजन की मात्रा सबके लिये समान नहीं हो सकती। भोजन उतनी मात्रा में किया जाये कि भोजन करने के उपरान्त उदर तना (भरा) हुआ प्रतीत न होकर कुछ खाली प्रतीत हो, शरीर में आलस्य न हो फुर्ती हो, प्रकृति में भारीपन न होकर हलकापन हो। प्रत्येक साधक को अपने शरीर व श्रम के अनुसार प्रत्येक समय के पेय व भोजन की मात्रा निश्चित कर लेनी चाहिये। अपने दैनिक खान पान का समय भी निश्चित कर लेना चाहिये। भोजन के समय प्रसन्नता और निश्चिन्तता होनी चाहिये। भोजन और भजन में शीघ्रता करने से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक होती है। भोजन और भजन दोनों ही कार्य हमेशा बड़ी शान्ति (निहायत इतमीनान) के साथ करने चाहियें। पेय को जितने धीरे पिया जायगा और भोजन के प्रत्येक ग्रास को जितना चबाकर निगला जायेगा, नीरोगता के लिये उतना ही अधिक उपादेय होगा। प्रत्येक वस्तु का सुरोचकता के साथ

सेवन कीजिये। भोजन बनाने तथा भोजन करने का स्थान अतिशय शुद्ध, पवित्र हो। भोजन करते समय कोई अटपटी, गन्दी, घिनौनी वस्तु अथवा क्रूर कुरूप प्राणी आंखों के सामने न हो। भोजन करते समय किसी की निन्दा, शिकायत, चुग़ली या अश्लील वार्ता कदापि न करें। ऐसा करने से शरीर के रसों में विषमता और रक्त, रज, वीर्य में विकार उत्पन्न होता हैं। भोजन करते समय का विनोद और वार्तालाप नितान्त शुद्ध और निर्दोष हो।

सदा व्यस्त, गम्भीर, एकान्ती और कार्यरत रहने से शरीर के अवयव और स्नायु अविकसित और कुण्ठित हो जाते हैं। विहार के निम्न साधनों से शरीर के समस्त कोश और सम्पूर्ण अंग सुविकसित और खिले रहते हैं। सतत विकास से ही शरीर में सम्पूर्णता सम्पादन होती है। और शारीरिक सम्पूर्णता के बिना किसी भी सुसाधना में संसिद्धि प्राप्त नहीं हो सकती।

ध्यान रहे कि आहार के समान विहार भी नितान्त सात्त्विक, नियमित, मित और समयित होना चाहिये।

भ्रमण—प्रातःकाल का भ्रमण अमृतोपम है। भ्रमण सदा सर्वत्र प्रातःकाल में ही करना चाहिये। जाते आते प्रातः भ्रमण न्यून से न्यून दो मील का तथा अधिक से अधिक चार मील का पर्याप्त होता है। जल के किनारे अथवा उद्यान, पर्वत या जङ्गल में भ्रमण करना परमोपयोगी है। जहां जलतट, उद्यान, पर्वत या अरण्य उपलब्ध न हों, वहां पथ (सड़क) पर भ्रमण करना उपयुक्त होगा। हरे भरे खेतों

के किनारे किनारे भ्रमण करना तो सबसे ही अच्छा है। ग्रीष्म ऋतु में रेतीले मार्ग या घास पर नंगे पैर भ्रमण करने से नेत्र तथा रज-वीर्य के अनेक दोष दूर होते हैं। सूर्योदय से आधा घण्टा पूर्व से आधा घण्टा पश्चात् तक का समय भ्रमण के लिये सर्वोत्कृष्ट है। भ्रमणार्थ पूर्व दिशा में जाया जाये तो बहुत ही उत्तम।

सैर—सायं भोजन के उपरान्त जाते आते कुल एक मील की सैर अवश्य करनी चाहिये।

विनोद—विनोद मानव-प्रकृति की स्वस्थता के लिये नितान्त आवश्यक है। विशेषतः साधक अथवा योगी के लिये विनोदशीलता दुर्गम घाटियों को सहजतया पार करानेवाली है। किन्तु यह स्मरण रहे कि विनोद सदा शुद्ध, सात्त्विक, सरल, शिक्षाप्रद, उद्‌बोधक, शान्तिप्रद तथा समाधानकारक हो।

दृश्यदर्शन—यथावकाश और यथासमय दर्शनीय दृश्यों का अवलोकन करें। प्राकृत तथा कलात्मक दृश्यों के दर्शन से शरीर के आन्तरिक संस्थानों का प्रचुर विकास और संवर्धन होता है। देशविदेशों के दर्शनीय और ऐतिहासिक स्थानों के अवलोकन से ज्ञान, विवेक और औदार्य की भी वृद्धि होती है। जलीय, पर्वतीय और अरण्यकीय दृश्यों के अवलोकन से बड़ी प्रफुल्लता तथा बड़ा आराम मिलता है।

प्रसन्नता—सदा प्रसन्न अथवा सन्तुष्ट रहना परम योग है। सन्तुष्टः सततं योगी, योगी सदा सन्तुष्ट प्रसन्न रहता है। सम अवस्था का नाम ही प्रसन्नता अथवा सन्तोष है। मस्तिष्क के सन्तुलन और हृदय की स्थिरता सदा बनाये रखने से प्रसन्नता

का अभ्यास हो जाता है। थोड़ा प्रयत्न करने से ही अन्तःसन्तोष और प्रसन्नवदनता की सिद्धि हो सकती है।

प्रहसन—हंसना जीवनबूटी है। हास्य से रोग और जीर्णता दूर भागते हैं। यथावसर समयोचित दिल खोलकर हंसना चाहिये।

मुस्कान—ओष्ठों पर दिव्य मुस्कान सदा ही अठखेलियां करती रहे, ऐसा अभ्यास कीजिये।

व्यायाम—श्रमसाध्य व्यवसाय वालों के लिये भी व्यायाम करना नितान्त आवश्यक है। नित्य प्रातः कम से कम पाव घण्टा और अधिक से अधिक आधा घण्टा व्यायाम करना ही चाहिये। स्थूलकाय व्यक्तियों तथा रोग विशेष की निवृत्ति के लिये योगासन-व्यायाम उपयोगी हैं। कृशकाय व्यक्तियों के लिये झटकीले व्यायाम (ऐसे व्यायाम जिनसे अंगों और जोड़ों पर झटके लगें) उपयोगी होते हैं। स्नायु-व्यायाम तथा मालिश सबके लिये एक समान लाभदायक हैं। पुरुषों के लिये अखाड़े में कुश्ती लड़ना भी पूर्ण व्यायाम है। स्त्रियों को कठोर व्यायाम कदापि न करने चाहियें। किशोरावस्था (सोलह वर्ष की आयु) तक प्रातः भ्रमण और खेल-कूद ही पर्याप्त व्यायाम है। तैरना स्त्री, पुरुष और किशोर तीनों के लिये समानोपयोगी है।

विश्राम—श्रम अथवा थकान के उपरांत आवश्यकतानुसार विश्राम अवश्य करना चाहिये। जब भी झपकी सी आये तब ही पन्द्रह मिनिट की एक छोटी सी निन्द्रा (Nap) ले लेनी चाहिये।

अभिरुचि—अभिरुचि का अर्थ है सब ओर सब में सुरुचि। खाना पीना, ओढ़ना पहनना, पढ़ना लिखना, खेलना कूदना, मिलना जुलना, साधना उपासना, व्यवसाय व्यापार, ज्ञान ध्यान, सब कार्य सुरुचिपूर्वक किये जाने चाहियें। रुचि, अभिरुचि, सुरुचि, उमंग, उत्साह से शरीर के कण-कण में सरसता का संचार होता है, शरीर फूल के समान हलका-फुलका रहता है।

निद्रा साधना का आवश्यक अंग है। इसकी कभी भूल कर भी उपेक्षा न करनी चाहिये।

निद्रा की कमी से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, शरीर में शिथिलता आती है, शिर भारी रहता है, विचारशक्ति क्षीण होती है, स्मरणशक्ति का ह्रास होता है और स्वभाव में चिड़चिड़ापन आता है।

निद्रा की अधिकता से पाचनशक्ति मन्द पड़ जाती है, शरीर में प्रमाद बढ़ता है, कार्यक्षमता का ह्रास होता है, कामवासना बढ़ती है, स्वभाव में कटुता आती है, तेज का क्षय होता है, मस्तिष्क दुर्बल हो जाता है और बुद्धि स्थूल हो जाती है।

रात्रि के दश बजे से प्रातः चार बजे तक छः घण्टे की गाढ़ निद्रा एक स्वस्थ साधक के लिये सुपर्याप्त है। अवस्था विशेष में दिन में घण्टा आधा घण्टा स्वल्प निद्रा लेने में कोई हानि नहीं। शरद् ऋतु में या तो रात्रि के नौ बजे से प्रातः चार बजे तक सोना चाहिये या रात्रि के दश बजे से प्रातः पांच बजे तक।

निद्रा गहरी और सात्त्विक होनी नितान्त आवश्यक है।

निद्रा के गहरी और सात्त्विक न होने से वे सब हानियां तो होती ही हैं जो निद्रा की कमी तथा अधिकता से होती हैं, तदतिरिक्त धातुविकार और रक्त विकार भी होता है।

मालिश और श्रम करने, नियमित समयित रहने, नियत समय पर सोने तथा चिन्तारहित होने से गहरी निद्रा आती है। रात्रि को शयन से पूर्व अपने बिस्तर पर बैठकर प्राणीमात्र के लिये इष्टचिन्तन, मङ्गल कामना और शुभ भावना कीजिये, ईशचिन्तन और ईशवन्दना कीजिये, आपकी निद्रा सात्त्विक हो जायेगी। अगहन और असात्त्विक निद्रा से जीवन में विषमता की व्याप्ति होती है और अमङ्गलसूचक दुःस्वप्न आते हैं।

रात्रि-शयन अथवा दिवा-विश्राम में शिर को उत्तर दिशा में और पैरों को दक्षिण दिशा में कदापि न रखना चाहिये। स्वच्छ भूमि अथवा काष्ठ के तख्त पर सोना स्वास्थ्य व निद्रा दोनों के लिये परमोपयोगी है। यदि निवाड़ या मूंज की चारपाई पर शयन करें तो उसे खूब कसा रखना चाहिये।

ओढ़ना बिछौना मुलायम व चिकना होना चाहिये और ऋत्वनुसार गरम या ठण्डा। ग्रीष्म ऋतु में ओढ़ना बिछौना सूती ही होना योग्य है। शरद् ऋतु में ओढ़ना बिछौना ऊनी होना चाहिये। साधक को किसी भी ऋतु और किसी भी अवस्था में रूई-भरे गद्दे, रज़ाई और वस्त्र काम में न लाने चाहियें।

शयनस्थल में शुद्ध वायु का निर्बाध प्रवेश होना चाहिये।

नाक मुंह ढककर कदापि न सोना चाहिये । मक्खी मच्छरों से बचने के लिये नाक मुंह ढकने की आवश्यकता हो तो इस कार्य के लिये पतला और छीदा मच्छरदानी के जैसा वस्त्र काम में लाना चाहिये ।

शयन-काल में शरीर कहीं से भी कसा हुआ न हो । पुरुष के लिये ऊपर एक ढीला कुर्ता या बुनियान और नीचे एक ढीली धोती या पायजामा या कोपीन और स्त्री के लिए एक ढीला उपरिवस्त्र और एक ढीला अधोवस्त्र उपयुक्त रहता है ।

सीना, मस्तिष्क, कनपटी या पेट पर हाथ रख कर सोना बहुत हानिकारक है । पींठ ऊपर करके उल्टा सोना बड़ा अनिष्टकारी है । सदा करवट से अथवा चित्ता सोना चाहिये । शरीर के प्रत्येक अवयव को लेटते ही एक दम ढीला छोड़ देना चाहिये ।

रात्रि-शयन भोजन करने के तीन घण्टे उपरान्त करना चाहिये । सर्वोत्तम यही है कि भोजन व दुग्धपान आदि सूर्यास्त से पूर्व ही कर लिया जाये ।

बिना तकिया लगाये सोना उत्तम है । यदि लगाया ही जाये तो तकिया एक अंगुल से अधिक मोटा न हो ।

निद्रा आने तक लेटे लेटे आंखें मूंदकर ओं का स्मरण और ध्यान करते रहने से योगनिद्रा की सिद्धि होती है ।

मिताचार जहां साधना का एक विशेष अंग है, वहां वह स्वतः एक परम योग है । साधक हृदयंगम करलें कि मिताचार परम योग है । मिताचार योग का आधार है । मिताचार योग

का तनू है। मिताचार योग का मूर्द्धा है। मिताचार योग का केन्द्र-बिन्दु है। मिताचार शरीरस्वास्थ्य और अध्यात्मयोग का मेरुदण्ड है। मिताचार शरीर और अध्यात्म का संयोजन करनेवाली सुषुम्ना नाड़ी है। मिताचार के सिद्ध होने पर योगाचार, देहाचार, गृहाचार, शिष्टाचार, धर्माचार, कर्माचार, आदि समस्त आचारों की सिद्धि स्वयमेव हो जाती है। मिताचारी ही समय, नियम और व्रत का पालन कर सकता है।

मिताचार=मित+आचार = ऋत+आचार = संतुलित [Balanced]+आचार। साधक का प्रत्येक आचार [व्यवहार] मित [संतुलित Balanced] होना चाहिये। ऐसा करने से शारीरिक क्षति तथा मानसिक ह्रास नहीं होता और जीवन सुखी, शान्त, प्रसन्न रहता है, आयु सुदीर्घ होती है।

जिस प्रकार अति अधिकता सर्वत्र वर्जनीय है, उसी प्रकार अतिशय न्यूनता भी सर्वत्र वर्जनीय है। साधक को सदा मित-मार्गी होना चाहिये। साधक की प्रत्येक चेष्टा, प्रत्येक गति, प्रत्येक प्रगति मित होनी चाहिये। अति अधिकता और अतिशय न्यूनता दोनों समान अनिष्टकर और विनाशकारी हैं। अति अधिकता अति-आचार [अत्याचार] है तो अति न्यूनता भी अति-आचार [अत्याचार] है। अत्याचार अभिशाप है। मिताचार सर्वश्रेष्ठ वरदान है।

किसी ने एक महात्मा से प्रश्न किया—'महाराज, प्रति दिन कितने घण्टे सोना चाहिये'?।

महात्मा ने सत्संगियों में से एक से पूछा—'तुम्हारे विचार

से प्रति दिन कितने घण्टे सोना चाहिये' ?। उत्तर मिला 'आठ घण्टे'।

महात्मा ने एक दूसरे सत्संगी से वही प्रश्न किया। उत्तर मिला 'चार घण्टे'।

महात्मा ने पहले सत्संगी से कहा 'तुम अपनी निद्रा में दो घण्टे की कमी करो'।

महात्मा ने दूसरे सत्संगी से कहा 'तुम अपनी निद्रा में दो घण्टे की वृद्धि करो'।

महात्मा ने दूसरे प्रश्नकर्त्ता की ओर देखा और कहा 'नित्य छः घण्टे सोना पर्याप्त होगा'।

अति अधिक और अतिशय न्यून के मध्य में मित का निवास है। प्रत्येक कार्य में साधक को अति अधिक और अतिशय न्यून के मध्य में स्थित रहना चाहिये। मिताचार में अमित आनन्द है।

बोलना तो न अत्यधिक बोलना चाहिये, न अतिशय न्यून बोलना चाहिये। साधक को मितभाषी होना चाहिये।

खाना तो न अत्यधिक खाना चाहिये, न अतिशय न्यून खाना चाहिये। साधक को मिताहारी होना चाहिये।

सोना तो न अत्यधिक सोना चाहिये, न अतिशय न्यून सोना चाहिये। साधक को मितनिद्र होना चाहिये।

आसन लगाना तो न अत्यधिक समय आसन लगाना चाहिये, न अति अल्प समय आसन लगाना चाहिये। साधक को

मितासनी होना चाहिये।

ध्यान करना तो न अत्यधिक ध्यान करना चाहिये, न अतिशय न्यून ध्यान करना चाहिये। योगी को मितध्यानी होना चाहिये।

व्यायाम करना तो न अत्यधिक व्यायाम करना चाहिये, न अतिशय न्यून व्यायाम करना चाहिये। साधक को मित-व्यायामी होना चाहिये।

कार्य करना तो न अत्यधिक कार्य करना चाहिये, न अतिशय न्यून कार्य करना चाहिये। साधक को मितकर्मा होना चाहिये।

साधक को सदा स्मरण रखना चाहिये—

अति आचार सर्वत्र वर्जनीय है।
मिताचार सर्वत्र विहित है॥

शरीर की प्रत्येक क्रिया व चेष्टा के साथ मन का एकाग्रता और प्रसन्नता के साथ योग होना परम आवश्यक है। मन की प्रसन्नता और मन की एकाग्रता जब शारीरिक क्रिया या चेष्टा के साथ संयुक्त होती है, तब ही उस क्रिया या चेष्टा का शरीर की नीरोगता अथवा शारीरिक स्वास्थ्य पर उत्तम और अनुकूल प्रभाव पड़ता है।

जब आप आहार [भोजन] करें या किसी पेय का पान करें तो अपनी दृष्टि भोजन पर या पेय पर रखिये और मन की प्रसन्नता व एकाग्रता से भोजन का अवलोकन करके भोजन या पेय को सम्बोधन कीजिये—मित्रस्य त्वा चक्षुषा समीक्षे—मैं

तुझे मित्र की दृष्टि से देखता हूं। तत्पश्चात् भोजन अथवा पान करते हुये उस भोजन अथवा पेय पर दृष्टि तथा मन को लगाइये और मन की अनुकूलता के साथ प्रसन्नतापूर्वक भोजन या पान कीजिये। भोजन वा पेय पर अनुकूल व एकाग्र मन से दृष्टि न रखते हुये और खाद्य या पेय की निन्दा करते हुये वस्तु का सेवन करने से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है और सेवन की गयी वस्तु से जो रस बनता है उसमें विषमता और विष की मात्रा अधिक होती है। भोजन बनाने में भी भोजन बनानेवाले व्यक्ति के मन का प्रभाव भोजन में प्रवेश करता है। भोजन बनानेवाला अपने मन की प्रसन्नता तथा एकाग्रता के साथ भोजन बनाता है तो वह भोजन सुपच, रसवर्धक और तृप्तिकारक होता है। साधकों को योग्य है कि भोजन का सब कार्य बाह्य पवित्रता के साथ साथ मन की पवित्रता, प्रसन्नता और एकाग्रता से करें। माता जब अपने शिशु को अपने स्तन का दूध पिलाये तो मन की निश्चिन्तता, प्रसन्नता व एकाग्रता से पिलाये। भोजन बनाते और खाना खाते समय मन को मुदित व एकाग्र कर लेना चाहिये। भोजन बनाते बनाते समाचार-पत्र या पुस्तक पढ़ते जाना या अन्य कार्यों में मन को इधर उधर करना बहुत दूषित अभ्यास है। इसी प्रकार खाते खाते पढ़ना या अन्य कार्य करते जाना स्वास्थ्य के लिये अतीव हानिकारक है।

विहार में भी मन का पूर्ण योग होना चाहिये। जिस प्रकार का भी विहार आप कर रहे हैं, आपका मन आपकी इन्द्रियों के साथ उसी में लगा हुआ होना चाहिये। यदि आप प्रात: या सायं भ्रमण कर रहे हैं तो मन भ्रमण का आनन्द लेता हुआ ऐसा अनुभव करे कि आपका प्रत्येक पग [क़दम] आपके

शरीर को नीरोग और स्वस्थ बनाता चला जा रहा है। यदि आप व्यायाम कर रहे हैं तो आपका मन व्यायाम का आनन्द लेता हुआ ऐसा अनुभव करे कि व्यायाम का प्रत्येक झटका आपकी शारीरिक शिथिलता को दूर करता हुआ आपके शरीर को सुडौल और सुदृढ़ बना रहा है।

निद्रा में भी मनोयोग परम लाभदायक है। जब आप सोने जा रहे हों तो प्रथम अपने मन में निद्रा की उत्सुकतापूर्ण सुरुचि जागृत कीजिये। बिस्तर पर लेटकर शरीर को नितान्त शिथिल छोड़ते हुये नेत्र बन्द कर लीजिये और मन को निद्रा में मग्न और निमग्न कर दीजिये। ऐसा करने से आपको बड़ी सुन्दर निद्रा आयेगी।

एक समय में एक ही कार्य करना और उसी में मन को पूर्णतया युक्त या लीन कर देना ही पूरा मनोयोग है। प्रत्येक कार्य में अपने मन की सम्पूर्ण प्रसन्नता, प्रमुदितता और एका-ग्रता को अन्तर्निहित करने का सदभ्यास कीजिये। यह अभ्यास जहां आपके शरीर की नीरोगता तथा स्वस्थता का सम्पादन करेगा, वहां दूसरी ओर आपके चित्त की वृत्तियों के निरोध में भी बड़ा सहायक होगा।

: ९ :

प्राणमय कोश=प्राण

सम्पूर्ण अन्नमय कोश [शरीर] में प्राणमय कोश [प्राण] अन्तर्निहित है। प्राण ही जीवन है और प्राण ही आयुष्य है। प्राण की समता और स्थिरता पर नीरोगता और स्वास्थ्य का आधार है। प्राण की सम और सुस्थिर गति से न केवल शरीर ही स्वस्थ और नीरोग रहता है, अपि तु बुद्धि मन और चित्त भी समाहित रहते हैं, जठराग्नि यथावत् प्रदीप्त रहती है, रक्त और वीर्य का अभिवर्धन तथा शोधन होता रहता है, सब कोश सुविकसित रहते हैं, रक्त का सुसंचार होता है, इन्द्रियां संयत और निर्विकार रहती हैं, सौन्दर्य और लावण्य स्थिर रहता है।

प्राण शरीर में सर्वत्र व्यापा हुआ है और शरीरगत समस्त चेष्टायें व क्रियायें प्राण की सहायता से होती हैं। यद्यपि प्राण शरीर के भीतर सर्वत्र गति करता है, किन्तु नासिका से लेकर नाभि तक जो प्राण-भण्डार भरा रहता है, उसे प्राणमय कोश कहते हैं। प्राण के इसी कोश [भंडार] से समस्त शरीर में प्राण का संचार होता है। शरीरस्थ सम्पूर्ण प्राण ग्यारह विभागों में विभक्त है—प्राण, व्यान, अपान और आठ चक्र।

श्वास द्वारा जो वायु अन्दर जाता है, उसे प्राण कहते

हैं। श्वास द्वारा अन्दर जानेवाला वायु जितना शुद्ध होता है, वह उतना ही जीवनप्रद और स्वास्थ्यवर्धक होता है।

अन्दर प्रविष्ट होकर प्राण समस्त शरीर-संस्थान में व्याप कर गति करता है। प्राण की इस व्यापक गति या अवस्था का नाम व्यान है।

व्यान सम्पूर्ण शरीर के मलकणों व विषाणुओं को लेकर प्रश्वास द्वारा तथा गुदा द्वारा बाहर निकलता है, उसे अपान कहते हैं। गुदा द्वारा अपान का निःसरण बहुत कम होता है। प्रश्वास द्वारा अपान का निःसरण सदा ही होता रहता है।

व्यान का प्रवाह शरीर के भीतर जिन चक्रों में होकर प्रवाहित होता है, उनका विवरण निम्न प्रकार है:—

क्रम संख्या	नाम चक्र	स्थान
१	ब्रह्मचक्र	ब्रह्माण्ड [कपाल के नीचे]।
२	आज्ञाचक्र	दोनों भौओं के मध्य।
३	जीवनचक्र	नासिका और मुख के मूल में।
४	विशुद्धचक्र	कण्ठ के मूल में।
५	अनाहतचक्र	हृदय में।
६	मनीपुरचक्र	नाभिकेन्द्र में।
७	स्वाधिष्ठानचक्र	मूत्रेन्द्रिय के मूल में।
८	मूलाधारचक्र	मलाशय और गुदा के मध्य में।

प्राण, व्यान, अपान और आठ चक्र सब मिला कर शरीर में प्राणमय कोष के ग्यारह विभाग हैं।

प्राण और अपान के सुस्थिर और दीर्घ रहने से जठराग्नि प्रदीप्त रहती है, समस्त कोश सुविकसित रहते हैं, सब रस

सूर्योदय तथा सूर्यास्त के समय सूर्याभिमुख खड़े होकर किये जाते हैं।

रोगनिवारणार्थ जो प्राणायाम किये जाते हैं, वे रोगानुसार विशेष विशेष स्थितियों [Positions] में स्थित होकर किये जाते हैं। कुछ बैठकर किये जाते हैं, कुछ लेट कर किये जाते हैं, कुछ खड़े होकर किये जाते हैं।

स्वास्थ्य-सम्बन्धी जो प्राणायाम हैं, उनमें से कुछ ऐसे हैं, जिनसे स्नायुओं का सुगठन और विकास होता है। कुछ ऐसे हैं, जिनसे जठराग्नि प्रदीप्त और पाचनशक्ति सुतीव्र होती है। कुछ ऐसे हैं, जिनसे रक्त, वीर्य तथा धातुओं का पोषण व शोधन होता है। कुछ ऐसे हैं, जिनसे वक्ष का विकास होता है। कुछ ऐसे हैं, जिनसे कृश शरीर को स्थूल किया जाता है। कुछ ऐसे हैं, जिनके करने से स्थूल शरीर हलका हो जाता है। कुछ ऐसे हैं, जिनसे शरीर का भार बढ़ाया जाता हैं। कुछ ऐसे हैं, जिनसे शरीर का भार घटाया जाता है। प्रसन्नचित्तता के भी कतिपय प्राणायाम हैं। स्वभाव और शील को बदलने के भी प्राणायाम हैं। शरीर की लम्बाई बढ़ानेवाले भी कुछ प्राणायाम हैं। कुछ प्राणायाम शरीर की लम्बाई घटानेवाले भी हैं। सौन्दर्यवर्धक प्राणायामों से सौन्दर्य तथा लावण्य की वृद्धि होती है। वीर्यस्तम्भन और वीर्यवर्धन के प्राणायाम भी हैं। अमोघवीर्यता तथा अखण्ड ब्रह्मचर्य के लिये भी निश्चित प्राणायाम हैं। दीर्घायुष्य के सम्पादन के लिये एक सुनिर्धारित प्राणायाम-पद्धति है। बुद्धि को परिष्कृत तथा मन को संसिद्ध करने के प्राणायाम भी हैं।

जीवन की प्रत्येक आवश्यकता के लिये नियत और निश्चित व्यायाम तथा प्राणायाम हैं। व्यायाम और प्राणायाम का परस्पर घनिष्ट सम्बन्ध है।

स्वास्थ्य-विषयक निम्न चार प्राणायाम अतिशय सरल और उपयोगी हैं—

(१) भ्रमण-प्राणायाम

यदि साधक केवल प्रातः ही भ्रमण के लिये जाते हों तो केवल प्रातः और यदि दोनों समय भ्रमण को जाते हों तो प्रातः सायं दोनों समय यह प्राणायाम करें। भ्रमण करते हुये दोनों हाथों की मुट्ठियों को दृढ़ता से बांधकर और दोनों भुजाओं को नीचे की ओर लटकाकर दायें बायें हिलाते हुये चलें। चलते हुये कुछ पगों [डगों] तक श्वास को अधिक से अधिक लम्बाई व गहराई के साथ भीतर भरते चले जायें। कुछ क्षण अन्दर रोककर फिर कुछ पगों तक अधिक से अधिक लम्बाई व गहराई के साथ बाहर निकालते चलें। कुछ क्षण प्राण को बाहर रोककर फिर अन्दर भरते हुये और अन्दर रोक कर बाहर निकालते हुये व बाहर रोक कर अन्दर भरते हुये निरन्तर चलते रहें। इन क्रियाओं को निरन्तर दोहराते हुये भ्रमण किया करें। प्राणायाम की इस क्रिया को बस्ती के बाहर मार्ग में भ्रमण करते हुये करें या किसी उद्यान में भ्रमण करते हुये करें। इस प्राणायाम से शरीर सुडौल होता है और बुद्धि, स्मरणशक्ति तथा कान्ति बढ़ती है।

(२) व्यायाम-प्राणायाम

जो भी, जितने भी, व्यायाम करें, दीर्घश्वास [Deep

breathing] के साथ करें। प्रत्येक व्यायाम को इस प्रकार व्यवस्थित [Set] कीजिये कि व्यायाम के प्रत्येक घटन [Stroke] के साथ प्राण का गहरायी के साथ भरना और निकलना हो। इस प्राणायाम से शरीर गठीला बनता है और अनथकता की सिद्धि होती है।

(३) सौर भस्त्रा

प्रातः ठीक सूर्योदय के समय और सायं ठीक सूर्यास्त के समय एड़ियां जोड़कर और पंजे चौड़े करके तथा दोनों हाथों को कटी पर जमाकर [अंगूठे पृष्ठ की ओर और अंगुलियां जुड़वां नाभि की ओर] सूर्याभिमुख खड़े होकर मध्यम गति और शक्ति से सौ [शत] बार सौर भस्त्रा कीजिए। लुहार की धोंकनी के समान प्राण को शीघ्र शीघ्र निरन्तर अन्दर भरना और बाहर निकालना भस्त्रा प्राणायाम कहलाता है। किसी अभ्यासी को करते हुये देखकर यह क्रिया सरलता से समझ में आ सकती है। इस प्राणायाम से हृदय और फेफड़े सुरक्त, स्वस्थ, नीरोग और सुदृढ़ रहते हैं, फेफड़ों के छिद्र पूर्णतया खुले रहते हैं, जठराग्नि प्रदीप्त होती है, पाचनशक्ति बढ़ती है, रक्त, वीर्य आदि समस्त धातु व रस शुद्ध होते हैं।

(४) व्यान-प्राणायाम

सौर भस्त्रा करने के पश्चात् व्यान-प्राणायाम कीजिये। सौर भस्त्रा की स्थिति [Position] में खड़े रहिये। दोनों मुट्ठियों को दृढ़ता से बांध कर दोनों भुजाओं को सतर नीचे लटकाकर उन्हें दायें बायें दोनों पार्श्वों, कटियों तथा जंघाओं

से चिमटा लीजिये। मुट्ठियों का आंगुल भाग शरीर से चिमटेगा। अब समुष्ट [मुट्ठी बांधे हुये] दोनों हाथों को सीधा सतर रखकर दक्षिण व उत्तर की ओर लेजाते हुये श्वास को पूर्णता के साथ अन्दर भरते जाइये, यह इच्छा करते हुये कि भीतर भरता हुआ प्राणवायु शरीर के कण कण में पहुंचता हुआ शरीर के कण कण को संजीवनी शक्ति से संचारित और सिंचित कर रहा है। इस प्रकार श्वास भरते हुये दोनों भुजाओं को कन्धों की ऊंचाई तक ऊपर लेजाइये। भरे हुये श्वास को कुछ देर रोककर फिर प्राण-वायु को धीरे धीरे बाहर छोड़ते हुये समुष्ट बाहुओं को नीचे लाते हुये शरीर से चिमटा दीजिये। इस प्रकार एक समय में कम से कम ग्यारह बार कीजिये। इस प्राणायाम से निर्बाधता के साथ प्राणवायु शरीर के कोर कोर में पहुंचता है और अपानवायु शरीर के कोर कोर से निःसरित होता है, मन व बुद्धि सहित सम्पूर्ण शरीर-संस्थान नितान्त निर्मल रहता है।

यों तो सभी प्रकार के प्राणायाम ब्रह्मचर्य की साधना में सहायक हैं, किन्तु प्राणायाम की दो विशेष विधियां हैं, जो ब्रह्मचर्य के पालन में अपना अमोघ प्रभाव रखती हैं। उनमें से एक प्राणायाम है ऊर्ध्वरेत और दूसरा है वाजपेय प्राणायाम। वाजपेय प्राणायाम को ही स्वाधिष्ठान प्राणायाम कहते हैं।

ऊर्ध्वरेत प्राणायाम की सामान्य विधि यह है—सूर्यास्त के समय सूर्याभिमुख खड़े होजाइये। एड़ी जुड़ी रहें और

पंजे चौड़े, जिस प्रकार ड्रिल करने में होते हैं। दोनों हाथ कटि पर जमा लीजिये, अंगुलियां उदर पर रखिये और अंगूठे कमर की ओर।

इस प्रकार खड़े होकर—

(१) प्रथम धीरे से श्वास अन्दर भरिये।

(२) इच्छाशक्ति से गुदा, मूत्रेन्द्रिय, आंत, नाभि तथा उदर का यथाशक्ति संकोच करते हुए शरीर के सम्पूर्ण प्राण को यथासम्भव दीर्घ करके बाहर निकालिये।

(३) प्राण को बाहर निकाल कर यथारुचि श्वास को बाहर रोकिये।

(४) यथाशक्य दीर्घ करके प्राण को वक्ष [सीने] में भरकर वक्ष को फुलाइये।

(५) वक्ष को फुलाकर कुछ क्षण प्राण को वक्ष में रोकिये।

(६) रुके हुये प्राण को धीरे-धीरे दीर्घ करके बाहर को छोड़िये।

उपर्युक्त छः क्रियायों से एक ऊर्ध्वरेत प्राणायाम होता है। ऐसे ऐसे न्यून से न्यून तीन और अधिक से अधिक ग्यारह प्राणायाम कीजिये।

स्वाधिष्ठान प्राणायाम अखण्ड ब्रह्मचर्य का अचूक साधन है। वह इस प्रकार किया जाता है—

(१) पद्मासन, सुखासन, सिद्धासन अथवा अन्य किसी आसन में बैठकर प्राण को भीतर की ओर झटके के साथ अन्दर भरिये और प्रत्येक झटके के साथ इच्छाशक्ति से गुदा को संकोच करके भीतर कण्ठ की ओर ऊपर को उछालिये।

इस प्रकार ग्यारह प्राणायाम कीजिये।

(२) दायें करवट लेटकर इसी प्रकार ग्यारह स्वाधिष्ठान प्राणायाम झटके के साथ कीजिये।

(३) बायें करवट लेटकर इसी प्रकार ग्यारह स्वाधिष्ठान प्राणायाम झटके के साथ कीजिये।

(४) चित्ता लेटकर इसी प्रकार ग्यारह स्वाधिष्ठान प्राणायाम झटके के साथ कीजिये।

(५) खड़े रहकर इसी प्रकार ग्यारह स्वाधिष्ठान प्राणायाम झटके के साथ कीजिये।

प्रातः सायं तो यह प्राणायाम करना ही चाहिये। इसके अतिरिक्त भी जब उदर हलका व रिक्त हो, यह प्राणायाम किया जा सकता है।

ध्यान-सम्बन्धी प्राणायाम का लक्ष्य है प्राण का स्तम्भन।

प्राण के गति करते रहने से विचारों का चक्र चलता रहता है। प्राण की गति का विचारों के व्यापार से अटूट सम्बन्ध है। साधकों ने स्वयं अनुभव किया होगा कि वे जब नेत्र, ओष्ठ, कर्ण बन्द करके ध्यान करने बैठते हैं और अन्तर्मुख होने का प्रयत्न करते हैं, तो मस्तिष्क जहां तहां घूमता है, कैसे कैसे बेढ़ंगे विचार आते हैं, अन्दर ही अन्दर कैसे कैसे अस्त व्यस्त दृश्य दिखाई देते हैं। किन्तु जब वे आंख कान खोले हुए बाह्यमुख होते हैं, तो ऐसा नहीं होता। क्या आप जानते हैं कि उसका क्या कारण है?

मानव-मस्तिष्क में असंख्य स्मृतिकण हैं। मनुष्य जो कुछ देखता, सुनता और आस्वादन करता है, उन सबका स्मृतिकणों

पर चित्रण होता रहता है। जब मनुष्य नेत्र श्रोत्र खोले हुए बाह्यमुख होता है, तब बाह्य शब्दों, दृश्यों और आस्वादनों के चित्र स्मृतिकणों पर खिचते रहते हैं। स्मृतिकणों पर खिचे हुए ये चित्र आवाज़ों, आकृतियों, वस्तुओं, घटनाओं तथा आस्वादनों के पहंचानने और चिन्तन करने में सहायक होते हैं। ये स्मृतिकण प्राण के वेग से सोते जागते सदा ही गति करते रहते हैं। जब मनुष्य नेत्र, श्रोत्र, मुख बन्द करके ध्यान करना आरम्भ करता है, तब नवीन चित्रों का चित्रण बन्द हो जाता है और खिचे हुए चित्र प्राण के वेग से मस्तिष्क में गति करते हुए मनरूपी विद्युत् से पूर्णांकित होकर दिखाई देते रहते हैं और उन्हीं के अनुसार विचार आते जाते हैं। ध्यान की अवस्था में यदि प्राण की गति का स्तम्भन कर दिया जाये, तो स्मृतिकण जहां के तहां स्तम्भित हो जाते हैं, मनोविद्युत् वातरहित दीपक के समान निश्चल हो जाती है, श्रवण और दर्शन के संस्थान निश्चेष्ट हो जाते हैं और उस अवस्था में ध्यान स्थिर हो जाता है। ध्यान की अनवरत स्थिरता से समाधि सिद्ध हो जाती है।

प्राण को निश्चल करने के लिये निम्नलिखित अभ्यास अति सरल और बहुत उपयोगी हैं—

(१) दीर्घ प्राण

नियत आसन में स्थित होकर नेत्र, श्रोत्र, मुख बन्द कर लीजिये और अन्तर्मुख होकर वरणीय भर्ग [दिव्य ज्योति, Divine Light] का ध्यान कीजिये। ध्यान करते हुए श्वास प्रश्वास यथा-सम्भव अतिशय दीर्घ करके लेते रहिये। एक

मास इसी प्रकार कीजिये।

(२) शून्य प्राण

दूसरे मास के आरम्भ से शून्य [शब्दरहित] प्राण का अभ्यास कीजिये। अन्तर्मुख होकर वरणीय भर्ग का ध्यान करते हुए शून्यता के साथ अतिशय दीर्घ श्वास प्रश्वास लेते रहिये। 'दीर्घप्राण' और 'शून्य प्राण' के अभ्यास में केवल यह अन्तर है कि दीर्घ प्राण के अभ्यास में श्वास प्रश्वास का शब्द अभ्यासी को सुनायी पड़ेगा, किन्तु शून्य प्राण के अभ्यास में श्वास प्रश्वास का शब्द अभ्यासी को सुनाई नहीं देगा। एक मास इसी प्रकार कीजिये।

(३) प्राण-स्तम्भन

ध्यान करते हुए, जब प्रश्वास बाहर को जाये, तो उसे अतिशय दीर्घ करके शून्यता के साथ बाहर जाने दीजिये। जब श्वास अन्दर जाने लगे तो उसे शून्यता के साथ अन्दर जाने दीजिये और अन्दर भर चुकने पर उसे यथा-आराम अन्तर्घट में रोके रहिये। पुनः पुनः ऐसा करते रहिये।

प्राण-स्तम्भन का अभ्यास करते करते कालान्तर में प्राण ध्यानावस्था में स्वयमेव अतिशय प्रशान्त, निश्चल, अचल और स्तम्भित रहने लगेगा। एक ओर ध्यान स्थिर होने लगेगा और दूसरी ओर प्राण भी स्थिर होने लगेगा। अभ्यास करते करते ध्यान तथा प्राण दोनों ही निश्चल हो जायेंगे और समाधि की अवस्था प्राप्त हो जायेगी।

: १० :

ज्ञानमय कोश = मस्तिष्क

योगाभ्यास में, जीवननिर्माण में तथा विश्वविकास में मस्तिष्क का सर्वाधिक महत्त्व है। भगवान् की सृष्टि में मनुष्य सर्वतोमहान् है और मनुष्य में सर्वतोमहान् है उसका मस्तिष्क। मनुष्य के लिये उसके जीवननिर्माण में और उसके जीवन की सम्पूर्णता के सम्पादन में जितना कार्य मस्तिष्क को करना पड़ता है, उतना मानव-शरीर के किसी अन्य अवयव को नहीं करना पड़ता है। यदि यह कहा जाये कि **मस्तिष्क-निर्माण ही जीवन-निर्माण** है, तो इसमें कोई अतिशयोक्ति न होगी। अतः साधक को अपने मस्तिष्क की साधना में विशेष श्रम और प्रमुख प्रयास करना है।

मस्तिष्क वह प्रकेन्द्र है, जिसके द्वारा अन्य सब कोशों के कार्यों का प्रवहन होता है। मस्तिष्क वह सर्वसंस्थित केन्द्र (junction) है, जिस पर होकर प्रत्येक विचार, चेष्टा, क्रिया व गति की ट्रेन न केवल गुज़रती है, अपि तु जिससे प्रत्येक विचार, चेष्टा, क्रिया व गति का संचालन होता है। शरीर में जितना महत्त्वपूर्ण कार्य मस्तिष्क करता है, उतना अन्य कोई अवयव नहीं करता है। इसीलिये मस्तिष्क के निर्माण पर विशेष बल दिया गया है और दिया जाना चाहिये।

ब्रह्माण्ड की रचना में ब्रह्म ने अपनी सम्पूर्ण कला को लगा दिया, किन्तु उसे अपनी ब्रह्माण्डरूपी कलापूर्ण कुशलता पर सन्तोष न हुआ। फिर उसने वनस्पति और प्राणी जगत् का सृजन किया, जिसमें मनुष्य के अतिरिक्त करोड़ों अरबों छोटी से छोटी, बड़ी से बड़ी और सुन्दर से सुन्दर योनियों का निर्माण किया। ब्रह्म को फिर भी अपनी अखिल कृति में वह कलापूर्णता दिखायी न दी। अन्त में उसने मनुष्य की रचना की और ब्रह्माण्ड में से अपनी सम्पूर्ण कला को समेट कर उसने अपनी सारी कला अशेषतया मनुष्य के मस्तिष्क में जड़दी। मनुष्य के मस्तिष्क में अपनी सम्पूर्ण कलाओं को कलान्वित देखकर ब्रह्म को सन्तोष हुआ और आनन्द भी।

मनुष्य के मस्तिष्क का नाम क्या रखा जाये, ब्रह्म विचारने लगा। बहुत सोच विचार कर ब्रह्म ने मनुष्य के मस्तिष्क का नाम "ब्रह्माण्ड" रक्खा, क्योंकि ब्रह्म ने अपनी सम्पूर्ण कला ब्रह्माण्ड में से सिमेट कर मनुष्य के मस्तिष्क में निहित की थी। ब्रह्म के ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, वह सब मानव-मस्तिष्क में है। मानव-मस्तिष्क में जो नहीं है, वह ब्रह्माण्ड में कहीं नहीं है। ब्रह्म की सम्पूर्ण कला का अधिष्ठान यह मानव-मस्तिष्क ही है। मनुष्य के मस्तिष्क का निर्माण करके ब्रह्म निश्चिन्त होगया, यह विचार कर कि मानव-मस्तिष्क ब्रह्माण्ड को पूर्णतर और सुन्दरतर बनाता रहेगा।

मानव-मस्तिष्क का निर्माण करके ब्रह्म अन्तर्धान हो गया। मनुष्य ने ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया और अपने मस्तिष्क

की सहायता से उसने बाह्य जगत् में अनेक ज्ञानों का संज्ञान और अगणित विज्ञानों का आविष्कार किया। उन ज्ञानों और विज्ञानों से शारीरिक सुख-सुविधायें प्राप्त हुयीं, किन्तु अन्तःशान्ति और आत्मिक आनन्द प्राप्त न हुआ। शान्ति और आनन्द की प्राप्ति के लिये मनुष्य ने अपने मस्तिष्क को अन्त:खोज में लगाया। अन्त:खोज में उसे अन्तर्धान हुये ब्रह्म का साक्षात्कार हुआ और उससे मनुष्य को शान्ति और आनन्द की प्राप्ति हुई। तब मानव-मस्तिष्क की रचना पर ब्रह्म को पूर्ण सन्तोष और पूर्ण आनन्द हुआ।

उपर्युक्त आख्यायिका से मानव-मस्तिष्क की महिमा का बोध होता है। सचमुच मस्तिष्क की साधना सर्वोपरि साधना है। मस्तिष्क की साधना सिद्ध होने पर प्रत्येक क्षेत्र में मनुष्य मनचाही सफलता प्राप्त कर सकता है। मस्तिष्क की सहायता से मनुष्य क्या कुछ नहीं कर सकता ? सब कुछ कर सकता है। किन्तु इस प्रसंग में यह स्मरणीय है कि परिपक्व मस्तिष्क से मनुष्य जहां प्रत्येक अर्थ की सिद्धि कर सकता है, वहां अपरिपक्व मस्तिष्क से वह महान् अनर्थ भी कर सकता है।

स्वजीवन-निर्माण, आत्म-साधना और विश्व-कल्याण के लिये यह परम आवश्यक है कि मनुष्य निरन्तर अपने मस्तिष्क का परिपाक, परिष्कार और सुविकास करता रहे। मस्तिष्क की कलान्वितता तथा परिपूर्णता में ही मानव और मानवता का सौभाग्य संनिहित है।

मानव-मस्तिष्क के दो भाग हैं—एक बुद्धि [Mind, Brain]

और दूसरा मेधा [Sub-conscious mind, Sub-brain]। मेधा एक असीम महासागर है और बुद्धि है उस महासागर की ऊपर की सतह पर तरनेवाली एक बहुत ही पतली झिल्ली। मेधा है एक अथाह समुज्जित कोश और बुद्धि है उसका एक अत्यल्प अंशमात्र। मेधा है एक अक्षय संभृत कोश और बुद्धि है उसका एक नगण्य व्यवहृत भाग। सत्तारूप से मेधा और बुद्धि दो पृथक् पृथक् सत्तायें नहीं हैं। दोनों की सत्ता एक ही है, जिसे मस्तिष्क कहते हैं। मस्तिष्क का ही योगपारि-पाटिक नाम है ब्रह्माण्ड। ब्रह्म के सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड में जो कुछ है, उस सबका सूक्ष्म, परन्तु पूर्ण, अंश मनुष्य के ब्रह्माण्ड [मस्तिष्क] में है। "जो कुछ ब्रह्माण्ड में है, वह सब पिण्ड [मानव-मस्तिष्क] में है।" समष्टि सृष्टि में जितने भी लोकलोकान्तर, जितने भी तत्त्व और जितने भी पदार्थ हैं, उन सबके अंशावतार [संयोजक प्रतिनिधि] मनुष्य के मस्तिष्क में प्रतिष्ठित हैं।

ये सब अंशावतार मनुष्य के मस्तिष्क में इस प्रकार प्रतिष्ठित हैं, जिस प्रकार खानों में धातुयें अन्तर्निहित होती हैं। जिस प्रकार खान खान को खोदने से विशेष विशेष धातु की प्राप्ति होती है, उसी प्रकार साधना या इच्छाशक्ति द्वारा हम मानव-मस्तिष्क के विशेष विशेष अंशावतार को उत्प्रेरित करके विशेष विशेष विज्ञान की उपलब्धि कर सकते हैं। टेलीफ़ोन की एक्स्चेन्ज-पद्धति के समान साधक अपने मस्तिष्क में स्थित किसी भी लोक के अंशावतारों [प्रतिनिधियों] को समाहित [युक्त] करके उस लोक का

साक्षात् अवलोकन कर सकता है। उसी प्रकार किसी भी देश विदेश के दृश्य देख सकता है और किसी भी विषय में प्रवेश करके उसका प्रत्यक्ष परिचय प्राप्त कर सकता है।

अपनी मेधा के अक्षय कोश में से मनुष्य बहुत कम पूंजी काम में लाता है। मेधा को जिस जिस विषयक जितनी जितनी राशि को मनुष्य व्यवहार में लाता रहता है, उसकी उतनी उतनी ही राशि मेधा की ऊपरली सतह पर तरल अवस्था में काम आती रहती है। उसी तरल राशि की संज्ञा बुद्धि है। जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, मेधा एक संधृत कोश है और बुद्धि है उसका व्यवहृत भाग। संधृत कोश में समस्त कण संधृत अवस्था में रहते हैं। अतः मेधा के कण संधृत कण कहलाते हैं। मेधा के जितने कण काम में आते रहते हैं, उन्हें व्यवहृत कण कहते हैं। व्यवहृत कणों का दूसरा नाम स्मृति कण है। व्यवहृत कणों का समूह ही बुद्धि है।

संधृत कण यथावसर स्मृति [व्यवहृत] कण बन जाते हैं और स्मृति कण यथासमय संधृत कण बन जाते हैं। उदाहरणार्थ एक भण्डार-सदन को ले लीजिये। भण्डार-सदन में असंख्य वस्तुयें रखी रहती हैं। जिस जिस कार्य के लिये जिन जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है, वे वे वस्तुयें बाहर निकाल ली जाती हैं और काम आती रहती हैं। कार्य की समाप्ति पर वे वस्तुयें भण्डार-सदन में रख दी जाती हैं और अन्य वस्तुयें निकाली और काम में लायी जाती हैं। इसी प्रकार यथावश्यकता संधृत कोश में से

यथेच्छ कण कार्य विशेष के लिये लिये जाते रहते हैं उनमें से जिन जिन विषयों के कण व्यवहार में आते रहते हैं, वे बुद्धि में व्यवहृत हुये कार्य करते रहते हैं। बुद्धि के व्यवहृत कणों में से जिन जिन विषयों के कणों का व्यवहार बन्द हो जाता है, वे पुनः मेधा के संधृत कोश में जाकर संधृत [deposit] हो जाते हैं।

मस्तिष्क के संधृत और व्यवहृत दोनों प्रकार के कण यावज्जीवन सुरक्षित रहते हैं। वे न परिवर्तित होते हैं, न नष्ट होते हैं। हम जो कुछ देखते और सुनते हैं, उन सब का अंकन [Recording] व्यवहृत कणों पर अङ्कित हो जाता है। उन अंकित आकृतियों और आवाज़ों की सहायता से हम विविध आकृतियों तथा बोलियों को पहंचानते हैं। बहुत दीर्घ काल के बाद जब हम किसी विस्मृत व्यक्ति या घटना का स्मरण करने के लिये अपने मस्तिष्क पर बल देते हैं, तो संधृत कोश में से सम्बन्धित कण, जो किसी समय व्यवहृत थे, उत्प्रेरित होकर बुद्धि-कोश में आजाते हैं और हमें उस व्यक्ति या घटना का सुस्पष्ट स्मरण हो आता है।

जीवन के साधारण व्यवहार में मनुष्य अपनी साधारण बुद्धि की साधारण राशि से ही कार्य लेता है। उसकी मेधा के अनन्त स्रोत सदा बन्द ही पड़े रहते हैं। साधना, चिन्तन अथवा अभ्यास के द्वारा जब किसी मनुष्य की मेधा के स्रोत खुल जाते हैं, तो वह विशेष विषयों में अबाध प्रगति करता है। मेधा के किन्हीं भी विज्ञान-स्रोतों का उद्घाटन मनुष्य के अपने सतत व्यवसाय अथवा अध्यवसाय पर निर्भर

है। मेधा में सरस्वती के भी असंख्य स्रोत संनिहित हैं। उनके सुविकसित और व्याकृत होने पर वाणी तथा लेखनी द्वारा सरस्वती का निर्बाध प्रवाह प्रसारित होता है। मेधा में ज्ञान विज्ञान के भी असंख्य केन्द्र हैं, जिनके व्याकरण से मनुष्य ज्ञान विज्ञान के क्षेत्रों में प्रगति करता हुआ विविध प्रकार के वैज्ञानिक आविष्कार करता है। मेधा में दिव्य ज्योति और दिव्य प्रकाश के भी असंख्य कोश हैं, जिनके खुलने से दिव्य किरणें निर्बाध आलोक की सन्तत धारायें प्रवाहित करती रहती हैं।

साधना द्वारा मनुष्य अपनी मेधा के जितने जितने स्रोतों, केन्द्रों और कोशों को सुप्रवाहित कर लेता है, वह उतना ही मेधावी बनकर विकास करता है, व्यापता है और सिद्धि साफल्य प्राप्त करता है।

मनुष्य जो कुछ देखता है और जो कुछ सुनता है, उस सबका अंकन [Recording] मनुष्य के मस्तिष्क में होता है। मस्तिष्क में जैसा अंकन होता है, वैसा ही मनुष्य चिन्तन करता है। मनुष्य जैसा देखता है और जैसा सुनता है, वैसे ही उसके विचार बनते हैं। साथ ही मनुष्य जिस भावना से देखता है और जिस भावना से सुनता है, वैसे ही उसके भाव बनते हैं।

विचार से आचार और भाव से व्यवहार की सिद्धि होती है। यथा विचार तथा आचार। जैसे जिसके विचार, वैसा उसका आचार। यथा भाव तथा व्यवहार। जैसे जिसके भाव, वैसा उसका व्यवहार। विचार की शुद्धि और व्यवहार की

पवित्रता, दोनों ही योग अथवा अध्यात्मसाधना का मूलाधार हैं। इसीलिये अष्टाङ्ग योग में यम और नियम को शेष अंगों से प्राथमिकता दी गयी है। यम [अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह] का उद्देश्य दूसरों के प्रति पवित्र व्यवहार है। नियम [शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान] का उद्देश्य वैयक्तिक आचार की पवित्रता है। पवित्र व्यवहार और शुद्ध आचार की भित्ति पर ही योग का उदात्त भवन खड़ा किया जाता है।

व्यवहार और आचार का परस्पर अभिन्न सम्बन्ध है। आचार और व्यवहार सदा साथ साथ रहते हैं। यथा आचार तथा व्यवहार। यथा व्यवहार तथा आचार। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, देखने [दर्शन] और सुनने [श्रवण] का विचार और व्यवहार के साथ अटूट सम्बन्ध है। दर्शन और श्रवण के अनुरूप विचार होते हैं और दृष्टि व श्रुति की भावना के अनुरूप भाव होते हैं। इसी रहस्य का उद्घाटन करने के लिये वेद ने "भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः" का पाठ पढ़ाया है। "देव बनने के लिये हम कानों से भद्र श्रवण करें और यज्ञशील बनने के लिये हम आंखों से भद्र दर्शन करें"।

मस्तिष्क के निर्माण के लिये सर्वप्रथम साधक को अपने नेत्र और श्रोत्र की साधना करनी चाहिये।

नेत्र की साधना है दृष्टि का संयम और दर्शन की शुचिता। मार्ग में चलते हुये मार्गविलोकिनी अधोदृष्टि रखें। व्यर्थ इधर उधर दृष्टिपात न करें। अश्लील दृश्यों, चित्रों तथा स्त्रीपुरुषों

की ओर दृष्टिपात न करें। मलिन और घिनौनी वस्तुओं की ओर न देखें। नारियों पर दृष्टि पड़े तो उनमें माता, बहिन और पुत्री की भावना करें। पुरुषों पर दृष्टि पड़े तो नारियां उन्हें पिता, बन्धु और पुत्र की भावना से देखें। सुन्दर रूप में सर्वत्र निर्विकार दृष्टि से प्रभु के सर्वव्यापी सौन्दर्य का दर्शन करें। प्राणी मात्र को मित्र की दृष्टि से देखें। सत्य और शुद्ध साहित्य का ही अवलोकन करें।

श्रोत्र की साधना है श्रुति का संयम और श्रवण की पवित्रता। कभी भूलकर भी किसी की निन्दा न सुनो। असत्य अश्लील वार्ता न सुनो। बुराई न सुनो। अधार्मिकता और नास्तिकता की बातें न सुनो। उत्तेजक और दुर्भावोत्पादक वार्तायें न सुनो। जो कुछ सुनो, सत्य शिव शुद्ध और सुन्दर ही सुनो। आध्यात्मिक और धार्मिक चर्चायें सुनो। देशसेवा और विश्वप्रेम की बातें सुनो। विश्व-कल्याण और सर्वहित की बातें सुनो।

साधक को यह सदा स्मरण रखना चाहिये कि श्रवण और दर्शन निश्चय ही बुद्धि और मन का आहार हैं। आहार जितना शुद्ध होता है, उतनी ही मात्रा में सत्त्व की शुद्धि होती है। शारीरिक सत्त्व की अपेक्षा बौद्धिक और मानसिक सत्त्व का कहीं अधिक महत्त्व है। साधक की दृष्टि और श्रुति जितनी संयत और शुद्ध होंगी, उसके मस्तिष्क का उतना ही परिष्कार होगा। साधक का दर्शन और श्रवण जितना परिमार्जित होगा, उसके मस्तिष्क का उतना ही निखार होगा। साधक का अवलोकन और अवश्रवण जितना

गहन होगा, उसका मस्तिष्क उतना ही सुसंस्कृत और परिपक्व होगा।

साधकों और साधिकाओं के लिये यह नितान्त आवश्यक है कि वे अपने नेत्रों और श्रोत्रों की निष्ठापूर्वक साधना करें। वे अपने नेत्रों और श्रोत्रों को अतिशय संयत, सुनियन्त्रित, सुशिक्षित और सुवर्जित रखते हुये अपनी दृष्टि को सदा सुपूत और अपनी श्रुति को सदा पुनीत रखें। नेत्रों और श्रोत्रों की सुसाधना, दर्शन और श्रवण की संशुद्धि, के बिना मस्तिष्क का सुनिर्माण कदापि नहीं हो सकता।

अमृत या विष, मस्तिष्क में जो कुछ भी प्रवेश करता है, वह सब नेत्र और श्रोत्र में होकर ही जाता है। ऐसा अभ्यास कीजिये कि नेत्र और श्रोत्र में होकर जो कुछ मस्तिष्क में जाये, वह सब अच्छी प्रकार छनकर और धुल कर अन्दर जाये।

मस्तिष्क के निष्पादन के लिये दूसरा उपाय है अनन्य चिन्तन अथवा एकाग्रता के साथ विचार करने का अभ्यास। एक समय में एक ही कार्य करना चाहिये और उसी एक कार्य में अपना सम्पूर्ण चिन्तन पूर्ण एकाग्रता के साथ केन्द्रित कर देना चाहिये। जिस समय जो कार्य किया जारहा है, उस समय उसी एक कार्य के विषय में विचार करना चाहिये। आप जिस समय जिस एक विषय पर विचार करना चाहते हैं, उस समय उसी एक विषय पर विचार कीजिये। इसी का नाम अनन्य चिन्तन अथवा एकाग्रता है। ऐसा करने से मस्तिष्क एकाग्रता का अभ्यासी बन

जाता है। अनन्य चिन्तन से एकाग्रता मस्तिष्क का स्वभाव बन जाती हैं। इस अभ्यास और स्वभाव के सिद्ध परिपक्व होजाने पर साधक की बुद्धि सदा निरन्तर स्थिर रहने लगती है। स्थिर बुद्धि से सतत-योगवृत्ति की सिद्धि होती है। यह स्मरण रखना चाहिये कि मस्तिष्क का जैसा स्वाभाविक अभ्यास या सहज-स्वभाव होगा, ध्यान के समय भी उसकी वही अवस्था होगी। यदि आपका मस्तिष्क प्रत्येक कार्य में अथवा प्रत्येक विषय में एकाग्र रहता है, तो वह प्रभु का ध्यान करने में भी एकाग्र रहेगा। यदि आपका मस्तिष्क प्रत्येक कार्य में या विषय में अनेकाग्र और अस्थिर रहता है, तो आत्मचिन्तन और ब्रह्मचिन्तन में भी उसकी वही अवस्था होगी। यह हो नहीं सकता कि आपका मस्तिष्क हर समय बिखरा हुआ और अनेकाग्र रहे और आत्मा का अथवा परमात्मा का चिन्तन करते समय एकाग्र होजाये। आपके मस्तिष्क की जैसी स्थिति सदा सर्वदा रहती है, उसकी वैसी ही स्थिति ध्यान करते समय रहेगी।

मस्तिष्क के सुविकास के लिये तीसरा उपाय है गहनता और गम्भीरता के साथ चिन्तन अथवा विचार करना। किसी भी कार्य को साधारण दृष्टि से देखकर और साधारण बुद्धि से विचारकर करने लगना अच्छा नहीं। प्रत्येक कार्य को गहरी दृष्टि से देखकर और गहराई के साथ विचारकर करने का अभ्यास डालिये। इसी प्रकार किसी भी विषय पर यों ही कामचलाऊ दृष्टि से चिन्तन करने का अभ्यास भी बहुत दूषित है। प्रत्येक विषय पर गहराई के

साथ ही विचार करने का अभ्यास सांसारिक पथ में और योग-मार्ग में, दोनों के लिये बहुत उपादेय है।

मस्तिष्क के सुसम्पादन के लिये चौथा उपाय है मस्तिष्क को सदा शीतल और शान्त रखना। अनुत्तेजित और शीतल शान्त मस्तिष्क किसी भी अवस्था में उत्तेजित और क्रुद्ध नहीं होता। उत्तेजना और क्रोध स्वास्थ्य के तो शत्रु हैं ही; साधना के भी परम शत्रु हैं। एक बार की उत्तेजना से अथवा एक बार के क्रोध से महीनों की गयी साधना निष्फल और व्यर्थ होजाती है। आनन्दवृत्ति और प्रसन्न-प्रकृति उसी साधक की सम्पत्ति बनती हैं, जिसका मस्तिष्क विकट से विकट परिस्थितियों में और उत्तेजित से उत्तेजित वातावरण में भी शीतल, शान्त और सन्तुलित रहता है।

पांचवां उपाय है मस्तिष्क के परिपाक का, विचारों की दृढ़ता का। निश्चय या निर्णय करने में चाहे जितना विलम्ब कीजिये, किन्तु एक बार निर्णय करलेने पर प्रारम्भ से अन्त तक अपने निर्णय को पूरी दृढ़ता के साथ कार्यान्वित कीजिये।

: ११ :

मनोमय कोश=मन

मन हृत्प्रतिष्ठ है, मन का केन्द्रस्थल हृदयाकाश है। वक्ष के नीचे और उदर के ऊपर जो अवकाश है, उसे हृदयाकाश कहते हैं। मनस्तत्त्व एक व्यापक तत्त्व है, जो सबमें सर्वत्र एकरस व्यापा हुआ है। मानव शरीर में उसका केन्द्रस्थल हृदयाकाश है। मस्तिष्क के परिष्कार, पवित्र विचार, अनन्य चिन्तन, स्थितप्रज्ञता, मस्तिष्क की शीतलता से मन के संकल्पों का पर्याप्त परिपाक और परिष्कार होता है।

मन का कार्य संकल्प विकल्प है। सिवाय सुषुप्ति और समाधि की अवस्था के मन सदा ही संकल्प विकल्प करता रहता है। सुषुप्ति की अवस्था में भी मन संकल्पशून्य नहीं होता है। सुषुप्ति अवस्था में मन और मन के संकल्प सुषुप्त होजाते हैं। एवमेव समाधि की अवस्था में भी मन संकल्पशून्य नहीं होता है। समाधि की अवस्था में मन और मन के संकल्प निश्चेष्ट अथवा निर्गत होजाते हैं। सुषुप्ति अथवा समाधि की समाप्ति पर मन और मन के संकल्प जागृत और गतिमान होजाते हैं।

मन को शिव-संकल्प बनाना मन की परम साधना है। चिन्तन और संकल्प का परस्पर अटूट सम्बन्ध है। संकल्प

के अनुसार ही सदा चिन्तन होता है। संकल्प का शोधन करके मन को शिव-संकल्प बनाना साधक के लिये परम आवश्यक है।

मन को शिव-संकल्प बनाने के लिये प्रथम उपाय है मन के संकल्पों का सतर्कता के साथ निरीक्षण करते रहना। जब मन में अशिव संकल्प आयें तो उन्हें सद्यः बाहर निकाल दीजिये। अशिव संकल्प के मन में प्रवेश करते ही उससे वेद के शब्दों में कहिये, "**परोपेहि मनस्पाप**", "मन के अशिव संकल्प परे चला जा"। और आप देखेंगे कि वह बाहर निकल जायेगा। वेद की इस सूक्ति को आप कण्ठस्थ कर लीजिये।

मन की दूसरी साधना है मन की चंचलता को हटाकर मन को स्थिर करना। मन की चंचलता के मुख्य कारण हैं संशय, भय, उद्विग्नता [बेचैनी], निराशा, घबराहट और आशुता [जल्दबाज़ी]।

संशयवृत्ति को हटाने के लिये अपने अन्दर आत्मविश्वास उत्पन्न कीजिये। भ्रम और भ्रान्ति से भी संशय उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक वस्तु और विषय का यथार्थ ज्ञान सम्पादन करने से संशयवृत्ति का निर्मूलन होता है।

साहस के अवलम्ब से निर्भयता का अभ्यास होजाता है।

सहनशीलता और धैर्य के अभ्यास से उद्विग्नता का स्वभाव जाता रहता है।

विफलता पर विफलता होने पर भी आशापूर्ण मन से पुनः पुनः साधना करते रहने से निराशा की वृत्ति का क्षय होता है।

किसी भी अवस्था या परिस्थिति में अपने होश हवास बनाये रखने का अभ्यास कीजिये, इससे घबराहट की आदत जाती रहेगी।

प्रत्येक कार्य शांतिपूर्वक सहज स्वभाव के साथ करने से आशुता की आदत जाती रहेगी।

मन की तीसरी और अन्तिम साधना है मन को नितान्त निर्मल रखना। अन्न और आजीविका की पवित्रता से मन की निर्मलता में बड़ी सहायता मिलती है। उपयोग की सम्पूर्ण वस्तुओं को शुद्ध रखने से भी मनस्तत्त्व की शुद्धि होती हैं। मन की पूर्ण निर्मलता सत्य और निश्छल निष्कपट व्यवहार से होती है। व्यवहार-शुद्धि से मन की पूर्ण शुद्धि होती है।

: १२ :

विज्ञानमयकोश = चित्त

चित्त भी हृत्प्रतिष्ठ है। सम्पूर्ण शरीर में जो चेतना है, उसका क्षरण चित्त से होता है। चित्त आत्मचेतना का प्रसारक है। चित्त से चेतना का प्रसार वृत्तिरूप से होता है। मस्तिष्क और मन से चित्त का सतत सन्तत साहचर्य रहता है। आत्म-कोश से आत्मा जो आदेश प्रेषता है, वह प्रथम चित्त को प्रेषा जाता है। उस आदेश को चित्त मन के प्रति, मन मस्तिष्क के प्रति और मस्तिष्क इन्द्रियों के प्रति प्रेषित करता है। दूसरी ओर बाहर से जो संवेदन अथवा सन्देश इन्द्रियों द्वारा प्राप्त होते हैं, उन्हें प्रथम इन्द्रियां मस्तिष्क के प्रति प्रेषित करती हैं। मस्तिष्क उन्हें मन के प्रति, मन चित्त के प्रति और चित्त आत्मकोश अथवा आत्मा के प्रति प्रेषता है। जो संवेदन अथवा सन्देश आत्मा अथवा आत्मकोश से बाहर की ओर प्रेषित होते हुए इन्द्रियों तक पहुंचते हैं, वे बाह्य वृत्ति द्वारा पहुंचाए जाते हैं। इन्द्रियों से चलकर जो संवेदन अथवा सन्देश आत्मकोश तक जाते हैं, वे अन्तःवृत्ति द्वारा लेजाये जाते हैं।

वृत्तियों का सूक्ष्मता के साथ निरीक्षण करने पर ज्ञात होगा कि बाह्य तथा अन्तःवृत्तियों का एक अनवरत तांता या तार लगा रहता है। वृत्तियों का यह अन्तः और बाह्य

गमन निरन्तर होता रहता है। वृत्तियों के ये गमनागमन ही मन के संकल्पों को तथा मस्तिष्क के चिन्तनों को उत्तेजन देते हैं और वे ही इन्द्रियों की समस्त चेष्टाओं के कारण होते हैं। दूसरी ओर संकल्प और चिन्तन वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं। परस्पर के ये उत्तेजन जितने तीव्र और विषम होते हैं, अन्तःकरण उतना ही विक्षुब्ध, मलिन, विकृत, असन्तुलित तथा अशान्त रहता है। ये उत्तेजन जितने संयत और सम होते हैं, अन्तःकरण उतना ही समाहित, निर्मल, सन्तुलित तथा शान्त रहता है।

चित्त की समाहिति, निर्मलता तथा शान्ति में मन और मस्तिष्क के परिष्कार से पर्याप्त सहायता मिलती है। चित्त का पूर्ण परिष्कार चित्त की वृत्तियों के निरोध से होता है। चित्त की वृत्तियों का निरोध योगसाधना का एक महत्वपूर्ण साधन अथवा अंग है।

विवेक और विरक्ति से चित्तवृत्तियों का पूर्ण निरोध होता है। जहां विवेक होता है, वहीं विरक्ति होती है। जहां विवेक का अभाव है, वहां विरक्ति हो ही नहीं सकती। विवेक में ही विरक्ति का निवास होता है। जहां विवेक होता है, वहां विरक्ति अवश्यमेव और स्वयमेव आजाती है। प्रयत्न विवेक की प्राप्ति के लिये ही किया जाता है। विवेक की सिद्धि पर विरक्ति छाया के समान पीछे पीछे चलती है। विवेक के अभाव में कभी कभी जो विरक्ति सी आती है, वह क्षणिक होती है और शीघ्र नष्ट होजाती है।

विवेक के लिये कहीं कहीं ज्ञान तथा विरक्ति के लिये

वैराग्य का प्रयोग किया जाता है। ध्यान से देखा जाये तो विवेक और ज्ञान में बहुत अन्तर है। ज्ञान से विवेक की सिद्धि होती है। ज्ञान साधन है और विवेक साध्य है। संसार के, संसार की घटनाओं के, संसार के भोगों के परिणामों की अनुभूति से जो ज्ञान होता है, उससे विवेक के सूर्य का उदय होता है। विवेकसूर्य के समुदित रहने पर विरक्ति सुस्थिर रहती है।

विरक्ति और वैराग्य में भी बहुत अन्तर है। वैराग्य की उत्पत्ति विषाद से होती है। विषाद के तिरोहित होने पर वैराग्य उड़ जाता है। विरक्ति का आविर्भाव विवेक से होता है। विवेक के सिद्ध होने पर विरक्ति अविचल होजाती है। विवेक और विरक्ति के सिद्ध होनेपर ध्रुवता की प्राप्ति होती है।

चित्तवृत्तियों के निरोध के लिये विवेक की उपलब्धि परम आवश्यक है। स्वाध्याय और सत्पुरुषों का संग विवेकप्राप्ति में बहुत सहायक होता है। पर विवेकप्राप्ति का अचूक उपाय तो अन्तर्दर्शन है। साधक को चाहिये प्रत्येक भोग, प्रत्येक पदार्थ और प्रत्येक घटना को ऊपर से ही नहीं, गहराई में जाकर अन्दर से भी देखे और परिणाम पर गहनता के साथ विचार करे। ऐसा करने से उसे जो अनुभव होंगे, वे उसके विवेकसम्पादन में अचूक और उसके विरक्ति-निष्पादन में अमोघ सिद्ध होंगे। विवेक और विरक्ति के परिपक्व होजाने पर चित्त की वृत्तियां पूर्णतया निरुद्ध [संयत] होजाती हैं। चित्तवृत्तियों के निरोध से आत्म-अवस्थिति होती है। आत्म-अवस्थिति से स्व-रूप का दर्शन और ब्रह्म का साक्षात्कार होता है।

: १३ :

ज्योतिर्मय कोश=आत्मा

ज्योतिर्मय कोश भी हृत्प्रतिष्ठ है। हृदय ही आत्मा का अधिष्ठान है। योगसाधना में हृदय से तात्पर्य हृदय के उस भाग से नहीं है, जिसमें शरीर के रक्त का शोधन तथा आवागमन होता है। योग की परिभाषा में हृदय से तात्पर्य उस हृदयस्थ अवकाश से है, जिसे हृदयाकाश कहते हैं और जो वक्ष के नीचे और उदर के ऊपर है।

मानव-शरीर का अधिष्ठाता आत्मा हृदयाकाश के मध्य में स्थित जिस दिव्य कोश में निवास करता है, उसे ज्योतिर्मय कोश अथवा आत्मकोश कहते हैं। अथर्ववेद १०-२-३१ में इसी ज्योतिर्मय कोश को "हिरण्ययः कोशः स्वर्गो ज्योतिषावृतः", "दिव्य कोश और ज्योति से आवृत स्वर्ग" कहा है। वेदों में हृदयाकाश के लिये अन्तरिक्ष शब्द का भी प्रयोग हुआ है।

शरीर के ऊपर ग्रीवा के मूल तक का भाग द्यौ है। ग्रीवामूल से नाभि तक का भाग अन्तरिक्ष है। नाभि से नीचे का भाग भूलोक है। जिस प्रकार सूर्य अन्तरिक्ष के मध्य में अपने आवृत पर स्थित होकर आवर्तन करता हुआ अपनी रश्मियों से व्यापकर अन्तरिक्ष के अतिरिक्त द्यौ और भू को प्रकाशता है, उसी प्रकार आत्मसूर्य शरीरस्थ अन्तरिक्ष के

मध्य हृदयाकाश में स्थित होकर अपनी रश्मियों से शरीरस्थ तीनों लोकों को व्यापता और प्रकाशता है। आत्मसूर्य की चिन्मय रश्मियों से चैतन्य होकर ही चित्त समस्त शरीर में चेतना का प्रसार करता है। आत्मसूर्य की रश्मियों से रश्मित होकर ही मन संकल्प विकल्प करता है। आत्मसूर्य की रश्मियों से उद्बुद्ध होकर ही मस्तिष्क [मेधा+बुद्धि] उद्बोधन करता है। आत्मसूर्य की रश्मियों से प्रेरित होकर ही ज्ञानेन्द्रियां ज्ञान का सम्पादन तथा कर्मेन्द्रियां कर्म का निष्पादन करती हैं।

चित्त चेतना का करणमात्र है। चित्त में जो चेतना है वह आत्मा की ही है।

मन मनन का केवल करणमात्र है। मन में जो मनन है वह आत्मा का है।

मस्तिष्क [मेधा+बुद्धि] ज्ञान का केवल करणमात्र है। मस्तिष्क में जो प्रज्ञापन है वह आत्मा का ही है। मेधा में जो उद्बोधन और बुद्धि में जो बोधन है, वह आत्मा का ही है।

इन्द्रियग्राम यह शरीर क्रिया का केवल करणमात्र है। शरीर में जो गति, चेष्टा अथवा क्रिया है वह आत्मा की ही है।

सूर्य अन्तरिक्ष में न कभी अस्त होता है, न उदय। वह तो सदा सर्वदा ही अपने आवृत पर पूर्णतया उदित रहता है। पृथिवी की सूर्य के अभिमुख अथवा विमुख स्थिति की अपेक्षा से ही सूर्य का उदय अस्त कहा जाता है। सूर्य तो अनवरत प्रकाश का प्रसारण करता रहता है। उसी प्रकार आत्मसूर्य

शरीरस्थ अन्तरिक्ष में सदा सर्वदा सतत सन्तत समुदित रहता हुआ प्रकाशता रहता है।

सूर्य के प्रति पृथिवी के परिक्रमण से जिस प्रकार दिन, रात और सन्धिकाल—पृथिवी पर ये तीन अवस्थायें होती हैं, उसी प्रकार आत्मा के प्रति शरीर की संस्थिति से मानव शरीर में जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीन अवस्थायें होती हैं। जब बाह्यकरण तथा अन्तःकरण दोनों आत्मा के अभिमुख होते हैं, तब शरीर में जागृति की अवस्था होती है। जब बाह्यकरण आत्मा के विमुख और अन्तःकरण आत्मा के अभिमुख होता हैं, तब शरीर की स्वप्नावस्था होती है। जब बाह्यकरण और अन्तःकरण दोनों आत्मा से विमुख होते हैं, तब सुषुप्ति की अवस्था होती है।

जागृति की अवस्था में अन्तःकरण तथा बाह्यकरण, दोनों ही बाह्य जगत् में कार्य करते हैं। स्वप्न की अवस्था में बाह्यकरण अन्तःकरण में लय होजाता है और केवल अन्तःकरण ही अन्तर्जगत् में कार्य करता है। सुषुप्ति की अवस्था में बाह्यकरण तथा अन्तःकरण दोनों ही अन्तर्लीन होजाते हैं और आत्मा उभय करणों की अन्तर्लीनता से आवृत होकर आत्मकोश में आवर्तित होता है।

जागृति में बाह्यतः सब कुछ ज्ञात होता है और मनुष्य अन्तःकरण से प्रेरित व संचेतित होकर बाह्य वस्तुओं का ज्ञान, प्रयोग तथा सेवन करता है।

स्वप्न में मनुष्य बाह्य वस्तुओं के अभाव में ही, अन्तर्वासना द्वारा अन्तर्जगत् में बाह्य वस्तुओं का भोग व

प्रयोग करता है, किन्तु ज्ञान का सम्पादन नहीं करता है।

सुषुप्ति में नितान्त अचेत अवस्था होती है, जिसमें अन्तः बाह्य कुछ भी ज्ञात नहीं होता है।

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीन अवस्थाओं से परे एक और अवस्था है, जिसे तुर्यावस्था [चतुर्थावस्था] कहते हैं। तुर्यावस्था अध्यात्म योग की अन्तिम अवस्था है। इस अवस्था की प्राप्ति पर साधक पूर्ण योगी बन जाता है। इसकी प्राप्ति पर अन्य सब योग सहजतया स्वयमेव सिद्ध होजाते हैं। इस अवस्था से युक्त योगी उस परम स्थिति को प्राप्त होजाता है, जिससे परे और कुछ नहीं है। साधक की जिज्ञासानिवृत्ति के लिये यहां साधकों को तुर्यावस्था की कुछ कल्पना करा देना उपादेय होगा।

तुर्यावस्था योगसिद्धि की वह अवस्था है, जिसमें सतत आत्मजागरण रहता है। तुर्यावस्था की सिद्धि पर अन्य तीनों अवस्थाओं में योगी का आत्मा पांचों [बुद्धि Mind, मेधा-Sub-Conscious Mind, मन, चित्त और शरीर] पञ्चों से युक्त रहता हुआ भी उनसे अयुक्त रहता है और उनसे स्वयं प्रभावित और चालित न होता हुआ स्वयं उनको प्रभावित और चालित करता है।

तुर्यावस्था और सुषुप्ति [सु-सुप्ति] की तुलना से तुर्यावस्था का कुछ आभास हो सकता है।

सुषुप्ति में जहां पांचों पञ्च जड़वत् सुषुप्त [सु-सुप्त] होजाते हैं, वहां आत्मा भी अपने ज्योतिर्मय कोश में सुषुप्त-वत् होजाता है। तुर्यावस्था में पांचों पञ्च जड़वत् सुषुप्त

नहीं होते, अपि तु आत्मचेतना से युक्त रहते हुए स्थिर समाहित रहते हैं और आत्मा आत्मकोश में आत्म-अवस्थित रहता हुआ आत्मजागरण से युक्त रहता है।

सुषुप्ति में पांचों पञ्च आत्मचेतना से सर्वथा वियुक्त होजाते हैं। तुर्यावस्था में पांचों पञ्च आत्मचेतना से सुयुक्त रहते हुए आत्मस्थ रहते हैं।

सुषुप्ति में पांचों पञ्च जड़रूप रहते हैं। तुर्यावस्था में वे आत्मरूप होकर आत्मधारणा में अन्तर्लीन रहते हैं।

सुषुप्ति में पांचों पञ्च तमाच्छादित होते हैं। तुर्यावस्था में वे ज्योतिर्मय, दिव्य, दीप्त और द्योतित रहते हैं।

सुषुप्ति में चित्त की वृत्तियां अवरुद्ध होजाती हैं। तुर्यावस्था में चित्तवृत्तियां निरुद्ध और संयत होती हैं।

सुषुप्ति में पांचों पञ्च प्रकृतिलीन रहते हैं। तुर्यावस्था में वे आत्मलीन रहते हैं।

तुर्यावस्था के दो भेद हैं—एक समाधि और दूसरी अखण्ड समाधि।

समाधि की अवस्था में योगी आसन विशेष में आसीन होकर धारणा और ध्यान को स्थिर करके, आत्मना ब्रह्मस्थ होकर, नियत समय तक समाधिस्थ रहता हुआ आत्मजागरण द्वारा आत्म-स्वरूप में स्थित रहकर ब्रह्म में साक्षात् संविष्ट रहता है। समाधि से निवृत्त होने पर योगी का जागृति, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओं से सम्बन्ध रहता है और उसकी बाह्य अन्तः उभय प्रवृत्तियां प्रवृत्त रहती हैं।

अखण्ड समाधि की अवस्था वह अवस्था है, जिसमें योगी

तीनों [जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति] अवस्थाओं को समाप्त करके सतत सन्तत आत्म-जागरण से युक्त रहता हुआ बिना किसी व्यवधान के अहर्निश प्रति क्षण ब्रह्मस्थ और ब्रह्मलीन रहता है और बाह्य चेतना से प्राणवत् निर्विषय रहता हुआ बाह्य कर्म करता है।

: १४ :

योग-शील

योगाभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व यह नितान्त आवश्यक है कि साधक अपने जीवन में योगशील का सम्पादन करें। शील और अभ्यास सदा साथ साथ चलते हैं। जैसा जिसका शील होता है, वैसा ही उसका अभ्यास होता है। अभ्यास की स्थिति शील पर स्थित होती है।

योगशील के बारह अंग हैं। सतत अभ्यास तथा सन्तत सतर्क आत्मनिरीक्षरण द्वारा साधकों को इन्हें अपने जीवन का स्वाभाविक अंग बना लेना चाहिये।

१—निर्मलता

अपने अन्तःकरण तथा बाह्यकरण को नितान्त निर्मल रखिये।

साधक का निवास-स्थान, निवास-स्थान में निहित सब वस्तुयें अतिशय शुद्ध रहें। साधक का शरीर तथा उसके दन्त, केश, नख, वस्त्र, आसन, सब अतीव शुद्ध रहें। अन्यत्र जहां कहीं भी साधक को ठहरना पड़े, उसे उस स्थान को तथा वहां की वस्तुओं को स्वच्छ कर या करा लेना चाहिये। अपवित्र वातावरण में कहीं कदापि निवास न करें। न ही अशुद्ध और मलिन वस्तुओं को अपने उपयोग में लायें। धर्मपूर्वक शुद्ध उपाय से धन कमायें।

अन्तःकरण की निर्मलता का सम्पादन बड़ी सतर्कता के साथ करना चाहिये। विषय विकार, ईर्ष्या द्वेष, चिन्ता क्लेश, निन्दा मत्सर, दुःख विषाद, भ्रम भ्रान्ति, भोग विलास, घृणा भय, लेप आसक्ति, शंका निराशा, अनिष्टचिन्तन दुर्भावना, असत्य चोरी, छल कपट, से अपने अन्तःकरण को सदा शुद्ध रखिये। मन वचन कर्म से कभी किसी को न सताइये।

२—मृदुता

अपने जीवन में मधुरता का सम्पादन कीजिये। कटुता और योग का कोई सम्बन्ध नहीं है। जहां कटुता है वहां योग का क्या काम। मधुरता के साथ सब व्यवहार कीजिये। निम्न पद को गाया कीजिये और तदनुसार व्यवहार कीजिये—

मीठा हो मेरा मिलन,
मीठा हो मेरा बिछुड़ना।
वाणी से बोलूं मधुर,
होजाऊं मधुसम मधुर॥

३—प्रसन्नता

सदा प्रसन्नचित्त और प्रसन्नवदन रहिये। जिनका अन्तःकरण निर्मल और जीवन मधुर होता है, वे सदा फूलों की तरह खिले रहते हैं। सदा हंसते हंसाते और मुस्कराते रहिये।

४—आत्मीयता

सबसे आत्मीयता रखिये। प्राणीमात्र में आत्मा का दर्शन कीजिये। सबसे आत्मवत् बर्ताव कीजिये। किसी को ऊंच और किसी को नीच न समझिये। सबको अपना निज

समझिये। सबसे स्नेह कीजिये। कोई आपको अपना शत्रु समझे तो समझे, आप सबको अपना मित्र समझियें।

५—शान्ति

सदा शान्त रहिये। रोष, विक्षोभ और उत्तेजना को अपने पास न फटकने दीजिये। कोई आपका अपमान, अनादर, तिरस्कार, अपयश, अपवाद, वैर, विरोध, अहित, अपकार, निन्दा, हानि कितना भी क्यों न करे, कभी भूलकर भी उत्तेजित न हूजिये। मस्तिष्क को शीतल और हृदय को सम रखिये।

६—धैर्य

कितनी भी कठिनाइयां, आपत्तियां, बाधायें मार्ग में क्यों न आयें, विचलित न हूजिये। यात्रा कितनी भी दुस्तर और लम्बी क्यों न हो, चले चलियें, चलें चलिये। स्मरण रखिये, प्रत्येक पग [क़दम] के साथ आपकी यात्रा तय होती जारही है। साधना जितनी महत्त्वपूर्ण है, उतने ही अधिक धैर्य की आवश्यकता है।

> साधक को चाहिये कि कभी न हो निराश।
> है यात्रा नहीं कि जो चलने से तय न हो।।
> साधन परम है साधना का तेरा धैर्य।
> साधक नहीं वह जिसमें अतुल धैर्य न हो।।

सब कुछ सहते सहारते हुए साधन के पथ पर आगे ही आगे बढ़े चलिये।

७—संयम

संयम अमोघ साधन है। संयमी बनिये। जिसमें संयम

नहीं है, वह किसी व्रत नियम का पालन नहीं कर सकता। यदि आप गृहस्थी हैं तो दाम्पत्य जीवन में संयम का अवलम्ब कीजिये। गृहस्थ में यदि पूर्ण ब्रह्मचर्य सम्भव नहीं है, तो यथासम्भव जितना बने उतना संयम अवश्य रखिये। प्रत्येक कार्य में प्रत्येक इन्द्रिय के व्यवहार पर संयम कीजिये। विचार व्यवहार पर संयम रखिये।

८—सरलता

अपने भोजन, वसन और व्यवहार में सरल रहिये। मिलना, जुलना, सेवा, आतिथ्य, सबमें सरलता रखिये। सरलता साधक का अद्वितीय भूषण है।

९—विवेक

विवेकी बनिये। विवेक परम प्रकाश है। कोई घटना नई नहीं है। कोई बात नई नहीं है।

चिन्ता विदेह क्या है,
यदि कुछ नहीं रहा।
अस्थिर हैं दृश्य सारे,
स्थिर कुछ भी यहां नहीं॥

संसार की कोई वस्तु न साथ आई है, न साथ जायेगी। जगत् के सब रिश्ते शरीर की समाप्ति के साथ समाप्त होजायेंगे। कर्तव्य कर्मों को करते हुए प्रत्येक पग लक्ष्य की ओर ही रखते चलिये।

१०—एकाग्रता

प्रत्येक कार्य को भगवत्सेवा जानकर कीजिये और एकाग्रता के साथ कीजिये। सदा अन्तर्मुख रहिये और अपनी

भावना से सर्वदा प्रभु में समाहित रहिये। बाह्य विषयों से मन को हटाइये।

११—अध्यवसाय

बेकार कभी न बैठिये। जीवन का एक एक क्षण अमूल्य है। अपनी आयु के प्रत्येक क्षण का सदुपयोग कीजिये। उपयोगी कार्यों में सदा व्यस्त रहिये। नियमित जीवन बनाइये। विफलता पर विफलता होने पर पुनः पुनः अध्यवसायपूर्वक साधना किये जाइये।

१२—ब्रह्ममयता

कण कण में पावन प्रभु विराज रहे हैं। अपनी भावना और दृष्टि को ब्रह्ममय बनाइये। सबमें सर्वत्र ब्रह्म की छवि का अवलोकन कीजिये। आप जिस क्षण भी ब्रह्ममयता की अनुभूति से वियुक्त होते हैं, उसी क्षण पापी हो जाते हैं। एक क्षण भी ब्रह्ममयता की अनुभूति से वियुक्त न हूजिये।

: १५ :

योगाभ्यास की तैयारी

योगाभ्यास की तैयारी से तात्पर्य है आसनस्थ होकर ध्यानावस्थित या समाधिस्थ होने के अभ्यास की तैयारी। समाधि की सिद्धि होने तक इन साधनों की अनिवार्यतः आवश्यकता है।

ध्यान करने के लिये एक निर्विघ्न स्वच्छ एकान्त शान्त स्थान नियत कीजिये। पर्वतीय गुहा इसके लिये परमोपयोगी है। या जंगल में एक छोटी सी पर्णकुटीर बना लीजिये। यदि जंगल या पर्वत की व्यवस्था न की जा सके तो घर पर ही नीलगुहा बना लीजिये। यदि नीलगुहा न बनाई जा सके तो फिर जहां भी और जितना भी स्वच्छ शान्त स्थान मिल सके, वहीं ध्यान करने के लिए स्थान नियत कर लीजिये। नियत स्थान पर ही नित्य अभ्यास करना उपादेय होगा।

ध्यान का समय भी निश्चित कीजिये। एक निश्चित समय पर ही ध्यान कीजिये। प्रातः सूर्योदय से पूर्व और सायं सूर्यास्त से कुछ पूर्व या पश्चात् ध्यान के लिये सर्वोत्कृष्ट समय है। इन दो समयों के अतिरिक्त जब भी पूर्ण निश्चिन्तता हो, वही समय ध्यान के लिये नियत किया जा सकता है।

जिस आसन पर बैठकर ध्यान करना है, वह सवा गज़ लम्बा और एक गज़ चौड़ा, गुदगुदा और मुलायम हो।

आसन नितान्त अछूता और साफ़ सुथरा रहना चाहिये। केवल ध्यान करते समय ही उसका प्रयोग किया जाये और स्वयं अभ्यासी के अतिरिक्त उसके आसन पर अन्य कोई न बैठने पाये। आसन गरम और कठोर कदापि न हो।

ध्यान करने के लिए शरीर पर धारण करने के वस्त्र भी पृथक् और ऋत्वनुसार होने चाहियें। वस्त्र बहुत हल्के और खुले हुये होने चाहियें।

ध्यानार्थ बैठने से पूर्व शरीर को शुद्ध कीजिये। यदि स्नान न कर सकें तो अंगोछे को पानी में भिगोकर और निचोड़ कर उससे शरीर को पोंछ लीजिये। ओष्ठ, नख, दन्त और नासिका को विशेषतया शुद्ध कर लीजिये।

कंघे से काढ़कर केशों को खुला या ढीला और सुव्यवस्थित कर लीजिये। कसकर बांधे हुए केश ध्यान के समय ध्यान में बाधक होते हैं।

यदि शरीर में शिथिलता अथवा आलस्य हो तो विश्राम कर लीजिये और एक छोटी सी नींद ले लीजिये। ध्यान करते समय शरीर और मस्तिष्क प्रफुल्लित [ताज़ा] होना चाहिये।

ध्यानाभ्यास करते समय पेट हल्का और खाली होना चाहिये।

: १६ :

समाधि

समाधि के तीन प्रकार हैं—ज्ञानसमाधि, भावसमाधि और ध्यानसमाधि।

ब्रह्म, जीव और प्रकृति के निर्भ्रम और निर्भ्रान्त ज्ञान का नाम ज्ञानसमाधि है। इन तीनों के ज्ञान के साधन हैं—पदार्थ विज्ञान [Science], स्वाध्याय और सत्संग। पदार्थविद्या के अनुशीलन से प्रकृति का स्वरूप समझ में आता है। आत्मा और परमात्मा के ज्ञान के लिये केवल स्वाध्याय ही पर्याप्त नहीं है। जिन ग्रन्थों का स्वाध्याय किया जाता है, उनके अक्षर सजीवता से शून्य होते हैं। जीवित सत्पुरुषों के सम्मुख बैठकर उनके जिन वचनों का श्रवण किया जाता है, उनमें सजीवता होती है। स्वाध्याय की अपेक्षा सत्संग का कहीं अधिक महत्त्व है। ग्रन्थों के शब्द जड़ हैं। सत्पुरुषों के मुख से निकले हुए सजीव शब्द आत्मचेतना लिये हुए होते हैं। स्वाध्याय करते हुए सत्पुरुषों के उपदेशों का श्रवण और उनके साथ वार्तालाप करके ब्रह्म, जीव और प्रकृति के स्वरूप को अच्छी प्रकार समझे बिना योगाभ्यास में यथावत् प्रगति नहीं हो सकती। इन तीनों के तत्त्व-ज्ञान से युक्त होकर साधक को शुद्ध विवेक की प्राप्ति होती है। शुद्ध विवेक द्वारा आत्मना आत्म-अवस्थित होकर ब्रह्मस्थ रहते हुए सब कर्म करना ज्ञानसमाधि

है। ज्ञानसमाधि में त्रित—ग्रहं [मैं], त्वं [तू, ब्रह्म] ग्रौर तत् [वह, सृष्टि-प्रकृति] — तीनों का पृथक् पृथक् भान रहता है।

"ब्रह्म महत् [सर्वव्यापक] है। ग्रात्मा ग्रणु है। प्रकृति परमाणु है। ब्रह्म सब ग्रणुग्रों ग्रौर परमाणुग्रों में व्यापक है ग्रौर सब ग्रणु परमाणु ब्रह्म में निहित हैं। **रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव।** ब्रह्म रूप-रूप में प्रतिरूप होरहा है। सबमें सर्वत्र उसी का सौन्दर्य झलक रहा है। सबमें सर्वत्र उसी की ललित ललाम लीला का संदर्शन होरहा है। यह सब ब्रह्ममय है। इस सबमें जो कुछ होरहा है, उसी की नियति ग्रौर इच्छा से होरहा है। मुझ में भी सब कुछ वह स्वयं ही कररहा है"। इस भावना से भावित होकर ब्रह्मलीन रहते हुए सब कर्म करना **भावसमाधि** है। भावसमाधि में सबमें सर्वत्र ब्रह्म ही ब्रह्म भासता है। भावसमाधि में द्रष्टा ग्रात्मा को ग्रपना तथा ब्रह्म का, दो का ही भान होता है। प्रकृति ग्रौर प्रकर्ता का भेद मिट जाता है। ग्रहं त्वं मुख समुख रहते हैं। यही द्वैतवाद है।

ज्ञानसमाधि से भावसमाधि की ग्रोर भावसमाधि से ध्यानसमाधि की सिद्धि होती है। ध्यानसमाधि में ब्रह्म ही ब्रह्म भासता है। ग्रहं त्वं ग्रौर तत् का तत्त्वमहम् [तत्+त्वं +ग्रहम्] होजाता है। ध्याता ग्रात्मा प्रकृति से सर्वथा पृथक् हुग्रा ब्रह्मलीन ग्रौर ब्रह्मरूप होजाता है, जैसे कोयला ग्रग्नि में प्रविष्ट होकर ग्रग्निरूप होजाता है। ध्यानसमाधि से निवृत्त होकर ग्रात्मा पुनः ग्रात्मस्वरूप में स्थित होता है, जैसे

कोयला अग्नि से पृथक् होकर पुनः कोयलारूप में प्रकट होता है। ध्यानसमाधि में ही आत्मा कहता है, "अहं ब्रह्मास्मि, मैं ब्रह्म हूं", जिस प्रकार अग्निस्थ कोयला कहता है, "अहमग्निरस्मि—मैं अग्नि हूं"। यही एकत्व, कैवल्य अथवा अद्वैतवाद है।

: १७ :

ब्रह्म का स्वरूप

सवितुः देवस्य भर्गः वरेण्यम्, सविता देव का भर्ग वरेण्य है। भर्ग का अर्थ है तेज, प्रकाश, सौन्दर्य। एक शब्द के ये तीन अर्थ सर्वथा पूरक हैं। तेज और प्रकाश के संयोग का नाम ही सौन्दर्य है। तेज+प्रकाश=सौन्दर्य। सौन्दर्य=तेज+ प्रकाश। वरेण्य का अर्थ है वरणीय, ग्रहणीय, प्रापणीय। ब्रह्म सर्वसौन्दर्य है। सर्वसौन्दर्य ब्रह्म में ही है और ब्रह्म का ही है। ब्रह्माण्ड में, प्रकृति में, जड़ चेतन में, सर्वत्र जो सौन्दर्य है, वह सब ब्रह्म के सौन्दर्य की छाया, छवि, छटा, आभा, अक्स, मात्र है।

उषा की लाली से नीला आकाश लाल लाल होजाता है। आकाश से उचटकर उषा की लाली जहां जिन पदार्थों पर पड़ती है, वे भी उषा की ललित ललाम लालिमा से अरुण [लाल] दिखाई पड़ते हैं। उषा की लालिमा [लाली] आकाश से उचटकर कमरे की किवाड़ों में जड़े श्वेत काच [glass] के पटलों [panes] पर पड़ती है और वे भी लाल लाल प्रतीत होते हैं। काच [glass] के श्वेत पटलों से पुनः उचटकर लालिमा कमरे के अन्दर रखे हुए श्वेत काच के पात्रों व पदार्थों पर पड़ती हैं और वे भी लालिमायुक्त हो जाते हैं।

इसी प्रकार परम सुन्दर परब्रह्म का परम सुन्दर सौन्दर्य उसके अपने निज धाम अथवा निज स्वरूप में ही सन्निहित है।

उसके अपनें निज धाम या निज स्वरूप से उचटकर उसके सौन्दर्य को जो आभा सकल ब्रह्माण्ड में छटकती है, उसकी छटा-छवि-छाया-मात्र से यह सब सुन्दर हो रहा है। अखिल ब्रह्माण्ड का अखिल सौन्दर्य उस परम सौन्दर्य की केवल उचटन है।

शुद्ध श्वेत जल से पूरित शुद्ध श्वेत पत्थर के एक छोटे से विशुद्ध तालाब के किनारे एक राजा आकर बैठा। उसने देखा बहुत सुन्दर अमूल्य मोतियों की एक सुन्दर माला तालाब के तल [पेंदे] में पड़ी हुई है। राजा ने सोचा, "यह सुन्दर माला मेरी सुन्दर रानी की सुन्दर ग्रीवा में बड़ी सुन्दर प्रतीत होगी।" राजा ने अपने वस्त्र उतारकर किनारे पर रख दिये और अन्तः-वस्त्र [कोपीन] पहनकर तालाब के तल में कई ग़ोते लगाये। किन्तु माला हाथ न लगी। अपने आश्रम में दूर खड़ा हुआ एक साधु इस दृश्य को देख रहा था। साधु राजा के निकट आया और मुस्कराते हुए तालाब के तट पर स्थित एक वृक्ष की टहनी की ओर संकेत किया। राजा ने देखा कि असली माला उस वृक्ष की एक टहनी पर टंगी हुई है और तालाब के तल में जो माला दिखाई पड़ रही थी, वह माला न थी, टहनी पर टंगी हुई माला की छाया मात्र थी। वह पेड़ पर चढ़ गया और एक क्षण में ही वह सुन्दर माला उसके हस्तगत हो गई। राजा बड़ा आनन्दित हुआ।

संसार छाया पर मुग्ध हो रहा है और ग़ोते पर ग़ोते खा रहा है। असली सौन्दर्य तो परम सुन्दर देव के परमोच्च परम धाम में निहित है। जो ऊपर चढ़ेगा, वह ही उसे प्राप्त

करके परमानन्द को प्राप्त होगा। योगाभ्यास के सोपान पर चढ़ता हुआ उस परम सुन्दर के सुन्दर धाम में पहुंचकर जो उसके परम सौन्दर्य का दर्शन कर लेता है, वह गाने लगता है—

जब से दर्शन पाया तेरा ।।
नहीं रींझता और किसी के, यौवन पर मन मेरा ।।
तू मुझमें है मैं तुझमें हूं, मैं तेरा तू मेरा ।।
दिन उजियाला रात उजाली, उजला शाम सवेरा ।।
कहीं 'विदेह' न जाना आना, बन्द हुआ भवफेरा ।।

वह आदित्यवर्ण है। आदित्य का अर्थ है अखण्ड और वर्ण का अर्थ है रंग, रूप, सौन्दर्य। उसका दिव्य सौन्दर्य अखण्ड है। अखण्ड दिव्य तेज और अखण्ड दिव्य प्रकाश से युक्त उसके सौन्दर्य का वर्णन कैसा है? उसके सौन्दर्य का वर्ण है दिव्य, इतना शुद्ध, इतना शुक्र, इतना श्वेत, इतना देदीप्यमान, इतना प्रखर, इतना चमकीला, इतना आकर्षक, इतना प्रिय, इतना मनोहर, कि उसकी एक झलक मात्र से दर्शनकर्ता सदा के लिये आत्मना उसका होजाता है, उसी में स्थित होजाता है, उसी में परम आनन्द पाता है, उसी में सुख शान्ति पाता है।

वह दिव्य ज्योति है। वह दिव्य प्रकाश है। वह दिव्य सौन्दर्य है। वह अखण्ड अजस्र सर्वव्यापक सर्वरम दिव्य सौन्दर्य है। वह है ज्योतियों की ज्योति, प्रकाशों का प्रकाश, सौन्दर्यों का सौन्दर्य।

: १८ :

आत्मा का स्वरूप

आत्मा अनिल, अन्-इल, अपार्थिव है और अमृत-अमर है। आत्मा स्वरूप से न जन्मता [उत्पन्न होता] है, न मरता [नाश को प्राप्त होता] है। प्रकृति के मिष से वह नाना रूपों, देहों, योनियों का धारण और वारण [त्याग] करता है, ठीक वैसे ही जैसे मनुष्य पुराने वस्त्रों को उतारकर नवीन वस्त्रों को पहनता है। देहरूपी धारण और वारण से आत्मा के रूप में कोई अन्तर नहीं आता है।

मरणशील देहों में आत्मा अमर ज्योति है। देहों के धारण और वारण से आत्म-ज्योति की ज्योत्स्ना में कोई अन्तर नहीं आता है। देहों से उसकी ज्योति आवृत होजाती है, ठीक वैसे ही, जैसे आवरण से दीप का प्रकाश आवृत होजाता है, जैसे बादलों में सूर्य का प्रकाश आवृत होजाता , जैसे काली घटाओं से चन्द्र की चन्द्रिका आवृत होजाती है।

आवरण के हटने पर जैसे दीप का प्रकाश अनावृत होता है, बादलों के छिन्न भिन्न होने पर जैसे सूर्य का प्रकाश प्रकाशता है, वैसे ही आत्म-अवस्थिति के सिद्ध होने पर सदेह रहते हुए भी आत्मा अपने ज्योतिर्मय स्वरूप में स्थित होकर अपनी ज्योति का दर्शन करता है और देहमुक्त होकर परम

प्रकाश में प्रकाशता है ।

स्वरूप से आत्मा शुद्ध और बुद्ध है । माया [प्रकृति] के सान्निध्य से उसमें जो अशुद्धता और अबुद्धता सी झलकती है, वह अध्याहार मात्र है। ज्यों ही वह माया से पृथक् होकर ऊपर उठता है, अपने शुद्ध बुद्ध स्वरूप में स्थित होजाता है।

स्वरूप से आत्मा दिव्य है, प्रकाशमान है और स्वदेह में आत्मरश्मियों द्वारा वैसे ही प्रकाशता है, जैसे अपनी रश्मियों द्वारा सूर्य आकाश में प्रकाशता है। छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी योनि में आत्मा अपनी चेतना और अपने प्रकाश द्वारा व्यापता है।

आत्मा स्वरूप से सुन्दर है, परम सुन्दर है, मनोहर है, परम मनोहर है। जब यह निज सौन्दर्य का अवलोकन करलेता है, तो फिर यह प्रकृतिजन्य किसी भी पदार्थ पर आसक्त नहीं होता है, अपि तु अपने आत्म-सखा ब्रह्म से प्रीतिमान होकर उसी से सुयुक्त रहता है।

आत्मा होता है, होमनिष्पादक है, जीवन-यज्ञ का सम्पादक है। जब यह आत्मा अपने यज्ञीय स्वरूप से युक्त होकर जीवन-यज्ञ का संचालन करता है, तो इस जीवन में यज्ञीयता आजाती है और यह जीवन आत्म-सुरभि से महकने लगता है।

आत्मा क्रतु है, आत्मा कर्ता है। शरीर करण है। आत्मा कर्म-क्षमता से युक्त है। इसे कर्म करने की स्वतन्त्रता है, पूर्ण स्वतन्त्रता हैं। यह आत्मा क्रतु है, कर्तृत्व से युक्त है।

आत्मा इन्द्र है, इन्द्रियों का स्वामी है। इन्द्रियों का स्वामी होने से ही आत्मा को इन्द्र कहते हैं।

आत्मा परम अणु है, अति सूक्ष्म है, नितान्त सूक्ष्म है। इसी से यह छोटी से छोटी और बड़ी से बड़ी योनि में सयोनि होजाता है और स्वधा [स्व-धारणा-शक्ति] से ऊपर नीचे इधर उधर सर्वत्र गति करता है।

आत्मा सनातन है। यह सदा से है और सदा रहेगा। आत्मा सत्य है। इसके निज स्वरूप में कभी कोई परिवर्तन अथवा परिणाम नहीं होता है। यह परिवर्तनशील और अपरिणामी है।

आत्मा जन्मना [स्वरूप से] जातवेदाग्नि है, पावक और ज्ञानस्वरूप है, शोधक और उद्बोधक है।

आत्मा इन्दु है, दिव्यता के परम दिव्य सागर का एक परम दिव्य बिन्दु है, जिसके द्योतित होने पर दिव्यता का अथाह सागर उमड़ पड़ता है।

: १९ :

प्रकृति का स्वरूप

प्रकृति परमाणुरूपा है। परमाणु का परिमाण १/३२,००,००,००० [एक बटा बत्तीस करोड़] इंच है। यदि किसी एक इंच लम्बे, एक इंच चौड़े और एक इंच मोटे पदार्थ के सब ओर से बराबर बराबर बत्तीस करोड़ टुकड़े किये जायें और उन बत्तीस करोड़ टुकड़ों में से एक टुकड़ा उठाया जाये, तो वह एक परमाणु होगा। परमाणु प्रकृति के उस सूक्ष्मतम कणांश का नाम है, जिसका विभाग न किया जा सके। जिसका विभाग किया जा सके, वह अणु कहाता है; परमाणु नहीं।

परमाणु का वर्ण शुक्र है। शुक्र का अर्थ है सर्वातिशय श्वेत, अत्यन्त सफ़ेद। जितने अधिक से अधिक श्वेत वर्ण हम संसार में देखते हैं, उनसे भी कहीं अधिक श्वेत, बहुत अधिक श्वेत, नितान्त श्वेत वर्ण परमाणु का है। सृष्टि की विविध अवस्थाओं में घनत्व के कारण परमाणुओं से बने हुए विविध पदार्थ नाना वर्ण धारण कर लेते हैं। निज रूप में परमाणु शुक्र है।

अखिल परमाणु तथा परमाणुओं से निर्मित अखिल ब्रह्माण्ड जिसमें स्थित रहता है, वह आकाश है। अखिल परमाणुओं तथा अखिल ब्रह्माण्ड सहित यह अनन्त असीम आकाश जिसमें स्थित है, वह है खं ब्रह्म, पर आकाश, परम

आकाश, आकाश ब्रह्म, ब्रह्म आकाश, परम प्रकाश, पर ब्रह्म, ब्रह्म, जिसके स्वरूप का कुछ वर्णन पूर्व किया जा चुका है। उस खं ब्रह्म एक सत् को ज्ञानी जन अनेक नामों से पुकारते हैं।

परमाणु और पारमाण्विक यह सब उस खं ब्रह्म में अन्तर्निहित है। सागर के गर्भ में अन्तर्निहित जल में जैसे असंख्य अनुदात्त उदात्त तरंगें उठती और उसी में विलीन होती रहती हैं, वैसे ही खं ब्रह्म में अन्तर्निहित आकाशीय परमाणुओं के अक्षय सलिल से असंख्य सृष्टियां तरंगवत् मिषतः ही संसृष्ट और उसी में मिषतः विलीन होती रहती हैं। एक साथ ही असंख्य सौर मण्डल बनते रहते हैं और असंख्य सौर मण्डल विलीन [प्रलयन को प्राप्त] होते रहते हैं।

परमाणु अपने नितान्त रूप में तत्त्वतः एक ही तत्त्व है, यद्यपि प्रकृति की रचना, स्थिति और प्रलयन में घनत्व के परिमाण से वे पञ्च तत्त्व का रूप धारण कर लेते हैं। यद्यपि सृष्टि का तत्त्व एक है, किन्तु सृष्टि के सृष्ट पदार्थों की संख्या इस समय तक की खोज से एक सौ से ऊपर पहुंच चुकी है।

: २० :

ज्ञानसमाधि-निर्मलता

परमात्मा सर्वव्यापक है। आत्मा आत्मा में और कण कण में उसकी सर्वव्यापिनी सत्ता समा रही है।

परमात्मा सर्वज्ञ है। सर्वव्यापक ही नहीं, वह सर्वज्ञ भी है। जहां जो कुछ है और होरहा है, वह सब उसके ज्ञान में है। एकान्त से एकान्त में भी जब कोई कुछ करता या बोलता है, वह उस सबको स्वतः ही जान लेता है। करना और बोलना तो दूर, वह तो विचार और भावना तक को जानता होता है।

कोई कहीं भी क्यों न हो, वह सदा सर्वदा सर्वत्र परमात्मा की उपस्थिति में उपस्थित है, वह हमेशा परमात्मा के हुजूर में हाज़िर है।

ब्रह्म की सर्वव्याप्ति और सर्वज्ञता में अटूट अखण्ड विश्वास स्थापन करने के अभ्यास का नाम ही ज्ञानसमाधि है। साधक के ज्ञान में सदा यह ज्ञात रहता है कि ब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है। साधक की निष्ठा में इस तथ्य की अविचल धारणा होना कि वह ब्रह्म में है और ब्रह्म उसमें है, ज्ञानसमाधि है। ज्ञानसमाधि के अभ्यास की परिपक्वता के लिये निम्न पद का गान किया कीजिये—

ब्रह्म मुझमें है।
मैं ब्रह्म में हूं ॥

ज्यों ज्यों आपकी ज्ञानसमाधि का अभ्यास पकता जायेगा, त्यों त्यों आप निष्पाप, निर्भय और निश्चल होते चले जायेंगे। ज्ञानसमाधि के सिद्ध होने पर आप पूर्ण ज्ञानी बनकर सर्वथा अनासक्त, निर्लेप, निःस्पृह, निर्विकार, वासना-रहित और निर्मल हो जायेंगे।

जिसने यह जान लिया है और जिसने यह मान लिया है कि ब्रह्म सर्वव्यापक और सर्वज्ञ है, वह न पापयुक्त विचार कर सकता है, न पापमय भावना रख सकता है, न पापकर्म कर सकता है।

जिसने यह अनुभव कर लिया है कि वह सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्त सत्ता सदा उसके अंग संग है, वह नितान्त निर्भय, निश्शंक और निर्द्वन्द्व होजाता है।

जिसने ज्ञाननेत्र से यह देख लिया है कि अविचल ब्रह्म सदा उसके साथ है, उसे संसार के हानि लाभ, वैर विरोध, प्रलोभन आकर्षण, उत्थान पतन, जीवन मरण, मान अपमान, विषय विलास, जय पराजय, पद प्रतिष्ठा, धन ऐश्वर्य, राज्य साम्राज्य, रूप लावण्य, यौवन सौन्दर्य, दुःख सुख, सम्पत्ति विपत्ति, कभी कदापि एक क्षण के लिये भी विचलित या प्रभावित नहीं कर सकते। वह ध्रुव ध्रुवता से युक्त होजाता है।

ज्ञानसमाधि के सतत अभ्यास से निष्पाप, निर्भय और निश्चल होजाने पर आप अनासक्त होजायेंगे। ममता, ममत्व, मेरापन ही आसक्ति का कारण है। ज्ञान समाधि के साधक

ने जब यह जान लिया कि यह जगत् और इस जगत् में जो कुछ है वह सब, उस जगत्पति का है, तब किसी भी पदार्थ या प्राणी में ममत्व कैसा और आसक्ति कहां !

जब यह संसार और इस संसार का सब कुछ उस जगत्पति का ही है, तब लेप [कर्म में आसक्ति] कहां ! यह संसार जिसका कार्यस्थल [कारखाना] है, इस कार्यस्थल [कारखाने] में जो भी कार्य है, वह सब उसी का है। इस संसार में साधक के लिये अपना कोई कार्य ही नहीं है। साधक जो भी कार्य कररहा है, वह उसका अपना कार्य नहीं है, उस जगत्पति का है। कर्म में ममता के अभाव से साधक निर्लेप होजाता है।

जब यह विश्व और इस विश्व का सर्वस्व उस प्रजापति का है, तब इस विश्व के समस्त प्राणी और सब मानव उस प्रजापति की ही प्रजा हैं। परिवार, परिजन, उसी प्रजापति की प्रजा हैं। इस तथ्य को हृदयंगम कर लेने पर साधक नितान्त निःस्पृह [व्यक्ति की आसक्ति से मुक्त] होजाता है।

आसक्ति, लेप और स्पृहा ही समस्त विकारों का कारण हैं। इन तीनों से रहित होकर साधक सर्वथा निर्विकार बन जाता है। निर्विकार होने पर वासनाओं का स्वयमेव नाश होजाता है। वासनाओं के नाश से सब भोग और रोग समाप्त होजाते हैं। जहां न भोग, वहां न रोग।

इन सब मल-विक्षेपों से मुक्त होकर ज्ञानसमाधि का साधक नितान्त निर्मल होजाता है, अन्दर बाहर से सर्वथा निर्मल होजाता है, पूर्णतया निर्मल होजाता है।

: २१ :

भावसमाधि-ब्रह्ममयता

अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय है। ब्रह्माण्ड ब्रह्म में है। ब्रह्म ब्रह्माण्ड में है। ब्रह्म व्यापक है। ब्रह्माण्ड व्याप्य है। ब्रह्माण्ड ब्रह्म में निहित है। ब्रह्म ब्रह्माण्ड में अन्दर बाहर सर्वत्र व्याप रहा है।

यह अनन्त और असीम ब्रह्माण्ड अमा है, अमापनीय है। अनन्त काल से मानव ब्रह्माण्ड को मापकर उसकी थाह पाने में लगा हुआ है। किन्तु वह इसे न माप सका है, न कभी माप सकेगा। अनन्त और असीम होने पर भी यह ब्रह्माण्ड ब्रह्म की अपेक्षा से अण्ड [अण्डे] के समान सान्त और ससीम है।

प्रकृति के परमाणु और परमाणुओं से बना हुआ यह अखिल ब्रह्माण्ड सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म से ओत प्रोत है। अत एव सृष्टि का एक एक कण सच्चिदानन्द की सच्चिदानन्दता से युक्त है।

प्रकृति सत् है, जड़ नहीं है। आत्मा सत् और चित् है। ब्रह्म सत्, चित् और आनन्द है। सत् और सच्चित् में, सबमें, सच्चिदानन्द समा रहा है। यह सब सच्चिदानन्दमय है। जिस प्रकार कोयलों में अग्नि की व्याप्ति से कोयले अग्निरूप होते हैं, वैसे ही सच्चिदानन्दस्वरूप ब्रह्म की व्याप्ति से यह अखिल ब्रह्माण्ड सच्चिदानन्दरूप है।

जिस प्रकार आत्मा की चेतना से सारा शरीर आत्म-चेतना से चेतनामय रहता है, उसी प्रकार सच्चिदानन्द ब्रह्म की व्याप्ति से यह अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्म की सच्चैतना तथा उसके आनन्द से पूरित है। जब आत्मा शरीर को छोड़कर चला जाता है, तो शरीर आत्मा की आत्मचेतना से शून्य होजाता है। सच्चिदानन्द ब्रह्म का कभी कहीं से बहिर्गमन नहीं होता है। यह सब सदा ही तन्मय रहता है।

रूपं-रूपं प्रतिरूपो बभूव, वह रूप-रूप में प्रतिरूप होरहा है, ऋग्वेद की इस सूक्ति में यही भाव संनिहित है। वह रूप-रूप में प्रतिरूपित है। रूप-रूप में उसी रूप-राशि का रूप रूपित है। हर सौन्दर्य में उसी के सौन्दर्य की छायाछवि छटक रही है।

हर वस्तु में उसे देखना, हर दृश्य में उसकी दर्शनीयता का दर्शन करना, प्रत्येक सौन्दर्य में उसके सौन्दर्य का अवलोकन करना, प्राणीमात्र में उसे अनुप्राणित अनुभव करना, यह भावसमाधि है।

क्या बताऊं कि मुझे क्या क्या नज़र आता है।
ज़र्रे ज़र्रे में तेरा जलवा नज़र आता है।
खिलीं जो कलियां नज़र आया तेरा मुस्काना।
गुलों में मुझको तेरा हंसना नज़र आता है॥
उषा की सुरखी में सुरखी तेरे रुख़सारों की।
हर एक अदा में तू इठलाता नज़र आता है॥

जिसने तत्त्वबोध पहंचाना।
सब ब्रह्माण्ड ब्रह्ममय जाना॥

ब्रह्ममयता की इस अनुभूति से साधक की दृष्टि में ब्रह्म-दृष्टि की स्थापना होती है।

विचार कीजिये। जब कण-कण में ब्रह्म की सत्ता संनिहित है, तब कोई भी पदार्थ ब्रह्ममयता से शून्य कैसे हो सकता है। जब सबमें सर्वत्र चेतन ब्रह्म व्याप रहा है, तब कोई भी वस्तु चेतनारहित कैसे हो सकती है। जब सबमें आनन्दस्वरूप समा रहा है, तक कोई भी और कुछ भी आनन्दविहीन कैसे हो सकता है।

सच्चिदानन्द की चेतना और उसका आनन्द सर्वत्र आपूर है। अपनी दृष्टि में ब्रह्ममयता लाइये। अपनी भावना में ब्रह्म की व्याप्ति को बसाइये। अपनी अनुभूति में उसकी आनन्दमयी सत्ता और उसकी चिन्मयी चेतना की अनुभूति जगाइये। ऐसा करने से आपकी दृष्टि में दिव्यता का प्रस्फुटन होगा और हर वस्तु में आपको ब्रह्म की ज्योति जगमगाती नज़र आयेगी। इस अभ्यास से आपकी आत्मचेतना में दिव्यता का संचार होगा और सबमें सर्वत्र आपको ब्रह्म की दिव्य चेतना का आभास होगा। इस अनुभूति से आपको सबमें सर्वत्र ब्रह्मानन्द का दिव्य आस्वादन होगा।

: २२ :

ध्यान-समाधि

ध्यानसमाधि का अभ्यास आरम्भ करते हुए आप अपने लिये प्रथम अपनी शरीर-रचना के अनुकूल एक आसन निश्चित कीजिये। यह स्मरण रखिये कि ध्यान-समाधि की सिद्धि के लिये आसन का आदि से अन्त तक समान महत्त्व है। जब तक आपका आसन निश्चल, स्थिर और सुखद न होगा, तब तक अन्य समस्त क्रियाओं को करते हुए भी आप ध्यानसमाधि की साधना में स्थायी और सफल प्रगति न कर सकेंगे।

पद्मासन सर्वश्रेष्ठ आसन है। इस आसन में स्थित होकर ध्यान करने से बहुत शीघ्र ध्यान जमने लगेगा। अर्ध-पद्मासन दूसरी कोटि का आसन है। तीसरी कोटि का आसन है सिद्धासन और सर्वसरल आसन है सुखासन। उत्तम यही है कि आप या तो पद्मासन में स्थित होने का अभ्यास करें अथवा सुखासन में। इन आसनों के अतिरिक्त भी अपने पैरों और अपनी जंघाओं के जोड़ मोड़ के अनुसार आप अपने लिये किसी अन्य प्रकार के नवीन आसन का आविष्कार कर सकते हैं।

आसन में स्थित होकर अपने धड़ और शिर को सीधी सतर में स्थित कीजिये। आपकी पीठ और आपके शिर का

पिछला भाग एक सीध में टिकने चाहियें। आपकी हनू (ठोड़ी) का निचला भाग आपकी ग्रीवा (गर्दन) के मूल के गढ़े के सामने ठहर जाये। अपने हाथों की दोनों हथेलियों को या तो अपने पैरों के घुटनों पर चिपका कर जमा लीजिये या हथेली पर हथेली रखकर अथवा दोनों हाथों के पंजों को परस्पर अंगुलियों से गूंथकर अपनी नाभि के नीचे जमा दीजिये। दोनों ओष्ठों को जोड़कर मुख बन्द कीजिये। पलकों को ढांपकर दोनों नेत्र बन्द कर लीजिये।

इस प्रकार एक समय में एक साथ पांच मिनट से प्रारम्भ करके तीस मिनट तक निश्चल होकर स्थिरता के साथ सुखपूर्वक आसन में बैठने का अभ्यास कीजिये। योगसमाधि के लिये तीस मिनट का निश्चल आसन सुपर्याप्त है। इससे अधिक बैठना समय का अपव्यय तो है ही, कालान्तर में स्वास्थ्य के लिये भी हानिप्रद सिद्ध होता है। प्रातः और सायं दोनों समय तीस तीस मिनट ध्यानावस्थित होने का अभ्यास करना अति श्रेष्ठ है। समय का अभाव हो तो प्रातः या सायं केवल एक बार ही ध्यान में बैठें।

ध्यान-समाधि के अभ्यास के लिये जब आप अपने निश्चित आसन में स्थित होजायें, तो नेत्र बन्द करके प्रथम तीन बार कोमल और मध्यम स्वर में ओं का दीर्घ नाद कीजिये। तत्पश्चात् निम्न सूक्ति तथा वाक्य बोलिये—

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥

परम सुन्दर देव ! तेरा जो परम तेजोमय, परम कल्याण-कारी, परम मनोहर, परम सुन्दर, प्रकाशमय स्वरूप है, मैं उसका दर्शन करता हूं।

ध्यान-समाधि के अभ्यास की समाप्ति पर पुनः तीन बार उसी प्रकार "ओं" का दीर्घ नाद कीजिये और तत्पश्चात् निम्न वाक्य बोलकर अभ्यास समाप्त कीजिये—

तेजो यत्ते रूपं कल्याणतमं तत्ते पश्यामि ॥

परम सुन्दर देव! तेरा जो परम तेजोमय, परम कल्याणकारी, परम मनोहर, परम सुन्दर, प्रकाशमय स्वरूप है, मैं उसका अन्दर, बाहर, सबमें, सर्वत्र, साक्षात् दर्शन कर रहा हूं।

: २३ :

वृत्ति-निरोध

नेत्र, श्रोत्र, वाणी और सांस (श्वास प्रश्वास) के द्वारा वृत्तियों का बाहर की ओर प्रगमन होता है। वृत्तियों के निरोध के लिए इन चारों का कठोर नियन्त्रण अथवा पूर्ण संयम करना अतिशय आवश्यक है।

जब किसी व्यक्ति को नींद नहीं आती है, तो वह आंख मुंह बन्द करके और कान दबाकर लेट जाता है और निद्रा लाने का यत्न करता है। नेत्र, श्रोत्र और मुख के इस संयम से प्रथम उसे धीरे-धीरे झपकी सी आती है, फिर झपकी निद्रा में परिवर्तित होती है और तब व्यक्ति सुषुप्ति (गाढ़ निद्रा) से आच्छादित हो जाता है। सुषुप्ति की अवस्था में पूर्ण स्वस्थ व्यक्ति के सांस की गति स्वयमेव निरुद्ध हो जाती है।

वृत्तियों के निरोध की सिद्धि के लिए साधक को अपने नेत्र, श्रोत्र और वाणी का पूर्ण संयम करना चाहिए। नेत्र, श्रोत्र और वाणी के संयम से सांस का निरोध स्वयमेव सिद्ध हो जाता है।

नेत्रों के निरोध के लिए अपनी दृष्टि का संयम कीजिये। यदि आप पढ़ रहे हैं तो अपनी दृष्टि को पढ़ने में ऐसा केन्द्रित कीजिये कि पढ़ते समय आपकी दृष्टि बिल्कुल इधर उधर न जाये। यदि आप चित्र बना रहे हैं तो आपकी दृष्टि चित्रकारी

में सुकेन्द्रित हो जायें। आप जो भी कार्य कर रहे हैं, उसी कार्य में आपकी दृष्टि संस्थित रहे। मार्ग में चलते हुए आप मार्गविलोकिनी दृष्टि रखें। इधर उधर अकारण किसी की ओर दृष्टिपात न करें। यदि आप किसी सभा में बैठकर व्याख्यान या उपदेश श्रवण करें तो नेत्रों के पलक मूंदकर अथवा पलक नीचे करके सभा में स्थित रहें। केन्द्रित दृष्टि, नीची निगाह या बन्द पलक इन तीन अभ्यासों से नेत्रों का पूर्ण निरोध सम्पादन कीजिये। ग्रन्थपाठ और साहित्याव-लोकन का सम्बन्ध भी नेत्रों से है। नेत्र निरोध के लिए यह भी नितान्त आवश्यक है कि आप अतिशय विशुद्ध और सात्त्विक ग्रन्थों व साहित्यों का ही अवलोकन करें।

श्रोत्रों के संयम के लिए अनावश्यक व्यर्थ वार्तालाप से सदा बचिये, अश्लील असंगत और अप्रासंगिक बातें न सुनिये, श्रृंगारिक व रसिक गाने बजाने अपने कर्णगोचर न होने दीजिए। परुष और अपावन वचन अपने कानों में न आने दीजिए। कम से कम और नितान्त आवश्यक वचनों को ही अपने श्रोत्रों से टकराने दीजिये। श्रुति के इस प्रकार सुसंयम से श्रोत्रों का संयम सिद्ध कीजिये।

वाणी के संयम के लिए सदा मुनि भाव को प्राप्त रहिये। यदि एक शब्द बोलने से काम चल सकता है तो दो शब्द न बोलिये। सदा ओष्ठ बन्द रखिये। कभी भी ओष्ठ निरर्थक न खोलिये। सर्वदा नाप तोल कर नपे तुले शब्द बोलिये।

जब आप आसनस्थ होकर ध्यान करने बैठेंगे, तब उपर्युक्त वृत्ति-निरोध का यह सन्तत अभ्यास आपके ध्यान को जमाने

में और ध्यान को जमाकर समाधि में प्रवेश कराने में अत्यन्त सहायक होगा।

आसनस्थ होकर नेत्र और ओष्ठ बन्द करके इच्छाशक्ति के द्वारा श्रवणशक्ति को अन्तर्मुख कीजिये। निश्चलता के साथ आसन पर आसीन होने से प्राण स्वयमेव स्थिर और निश्चल होता चला जायेगा। यों आसन पर स्थित होकर सविता देव के वरेण्य भर्ग का, सौन्दर्य के परम सूर्य परम पावन प्रभु के दिव्य सौन्दर्य का, प्रकाशस्वरूप देव के दिव्य प्रकाश का, ध्यान कीजिये। नेत्र बन्द करने पर बन्द आंखों से जैसा भी धूमल या धवल वर्ण दिखाई पड़े, उसी पर अपना ध्यान जमाइये। उसी धूमल या धवल वर्ण को देव सविता का वरेण्य भर्ग, प्रकाशस्वरूप देव का दिव्य प्रकाश, सुन्दर देव का दिव्य सौन्दर्य, समझकर, उसी पर अपना सम्पूर्ण ध्यान केन्द्रित कर दीजिये। ध्यान करते करते आपकी धारणाओं में दिव्यता का संचार होता जायेगा। अभ्यास के परिपक्व होने पर आपकी दृष्टि दिव्य दृष्टि हो जायेगी। दृष्टि के दिव्य होने पर आपकी दिव्य दृष्टि से आपको देव सविता के, परब्रह्म के, परम सुन्दर, परम प्रकाशमय, दिव्य स्वरूप का दर्शन होगा, संदर्शन होगा।

किसी चक्र या किसी स्थान विशेष पर कभी भूलकर भी ध्यान जमाने का अभ्यास न कीजिये, अन्यथा जिस चक्र या स्थान पर आप अपना ध्यान जमायेंगे, उसी चक्र या स्थान पर पीड़ा या कोई रोग हो जायेगा।

: २४ :

संकल्प का शमन : विचार का स्तम्भन

देव सविता के वरेण्य भर्ग का ध्यान करते हुए संकल्प विकल्प के शमन और मस्तिष्क के विचारों के स्तम्भन का अभ्यास कीजिये। मन के संकल्प विकल्प और मस्तिष्क के चिन्तनात्मक विचार ध्यान में बाधक होते हैं।

प्रायः अभ्यासी जन कहा करते हैं, "जब हम नेत्र बन्द करके ध्यान करने बैठते हैं, तो हमारे मन में अनेक संकल्प विकल्प उठने लगते हैं और न जाने कहां कहां के क्या क्या विचार उत्पन्न होते हैं। हमारा मन और हमारा चिन्तन न जाने कहां कहां की यात्रायें करने लगता है।" ध्यान के मार्ग में निस्सन्देह ये दो बहुत बड़ी बाधायें हैं। या यों कहिये कि ध्यान के मार्ग में केवल ये दो ही प्रमुख बाधायें हैं। इन दो बाधाओं का समाधान होजाने पर ध्यान का मार्ग सर्वथा प्रशस्त होजाता है।

कल्प का अर्थ है रचना करना, निर्माण करना, बनाना। कल्प से ही काया-कल्प बना है, जिसका अर्थ है काया का नव निर्माण करना। कल्प से पूर्व सं और वि जोड़ने से संकल्प और विकल्प शब्द बने हैं। कल्प से कल्पना शब्द बना है। कल्पना में सं-सतत-सम्यक् कल्प करना संकल्प है। कल्पना में विविध कल्प करना विकल्प कहाता है। कल्पना में विविध

कल्पनायें करना संकल्प विकल्प है। विविध प्रकार की कल्पनाओं के महल खड़े करना संकल्प विकल्प है।

संकल्प विकल्प से विचारों का उद्भव होता है। जिस विषय में या जिस विषय का मन संकल्प विकल्प करता है, मस्तिष्क उसी विषय में और उसी विषय का चिन्तन करता है। चिन्तन विचारों का स्रोत है। चिन्तन करने से मस्तिष्क में से विचारों के स्रोत फूट पड़ते हैं। चिन्तन से विचारों की असंख्य धारायें, असंख्य लहरें, असंख्य तरंगें, प्रवाहित होने लगती हैं।

मन में एक संकल्प उठता है। उसी एक संकल्प से अनेक विकल्प उठते हैं। प्रत्येक संकल्प अनेक विकल्पों को जन्म देता है। एक संकल्प की पूर्ति के लिये अनेक विकल्प उद्बुद्ध होते हैं। प्रत्येक विकल्प मस्तिष्क में जाकर टकराता है और मस्तिष्क चिन्तन द्वारा उस विकल्प का विश्लेषण करना प्रारम्भ कर देता है। मस्तिष्क के विश्लेषण से तद्विषयक समस्त स्मृतिकण और संज्ञान-कोश उत्तेजित होते हैं। प्रत्येक स्मृति-कण में तद्विषयक संचित स्मृतियां चिन्तनों और विचारों को गति देती हैं। विचारों का एक प्रबल आन्दोलन प्रारम्भ होजाता है। एक समुद्र-मन्थन-सा होने लगता है। प्रत्येक संज्ञान-कोश तद्विषयक असंख्य नवीन चिन्तनों और विचारों को विश्लेषण-सागर में उंडेल देता है। विचार-सिन्धु में महान् संघर्ष होता है।

संकल्प विकल्प, चिन्तन और मनन, का यह क्रम निर्व्य-वधान चलता रहता है और इतनी तेजी के साथ चलता

रहता है कि समय के छोटे से छोटे विभाग की कल्पना करके भी उसकी गति का निर्धारण नहीं किया जा सकता।

जिस प्रकार विद्युत्-वेग से प्रेरित होकर प्रकाश की रेखायें प्रति सैकिण्ड एक लाख छयासी हज़ार मील की गति से निरन्तर दौड़ती रहती हैं, उसी प्रकार मनःसंकल्प से प्रेरित और विकल्पों से प्रप्रेरित होकर विचार की रेखायें प्रति सैकिण्ड सड़सठ लाख बीस हज़ार मील तक की गति से दौड़ती हैं।

संकल्प जितना दृढ़ होता है, विकल्प उतने ही वेगवान् होते हैं। विकल्प जितने वेगवान् होते हैं, विचार उतने ही तीव्रगामी होते हैं। संकल्प से उत्तेजित होकर विकल्प मस्तिष्क की ओर उद्‌गमन करते हैं। विकल्पों से उत्तेजित होकर मस्तिष्क चिन्तनों को उत्तेजित करते हैं। चिन्तनों से उत्तेजित होकर विचारों में गति होती है।

सब विकल्पों, चिन्तनों और विचारों का मूल संकल्प है। संकल्प का शमन होने पर विकल्पों का शमन होजाता है। विकल्पों का शमन होने पर चिन्तनों का शमन होजाता है। चिन्तनों का शमन होने पर विचारों का शमन होजाता है। साधक को अपने विकल्पों, चिन्तनों और विचारों से संघर्ष नहीं करना है, अपने संकल्पों का शमन करना है। मूलस्रोत का शमन होने पर स्रोत से प्रवाहित होनेवाली धाराओं का स्तम्भन स्वयमेव होजाता है।

संकल्प मन का स्वाभाविक धर्म है। मन से संकल्प का निर्मूलन कदापि नहीं किया जा सकता, उसका केवल

शमन किया जा सकता है। मन और मन के संकल्प जागृति और स्वप्न की अवस्थाओं में निरन्तर कार्य करते रहते हैं। अत एव इन दोनों अवस्थाओं में विकल्पों, चिन्तनों और विचारों का निरन्तर तांता लगा रहता है।

सुषुप्ति की अवस्था में मन सुषुप्त होजाता है। सुषुप्ति में जब तक मन सुषुप्त रहता है, तब तक मन के संकल्प भी सुषुप्त रहते हैं। सुषुप्ति में मन के सुषुप्त रहने के कारण मन के संकल्प सुषुप्त रहते हैं। मन की इस अवस्था का नाम संकल्प-सुषुप्ति है।

सुषुप्ति के कारण जो संकल्प-शमन होता है; उस अवस्था में आत्मा चिन्मय कोश में आत्म-धृत आत्म-रत रहता है। मन के संकल्पों से उत्पन्न होनेवाले विकल्पों, चिन्तनों और विचारों का अनायास ही पूर्ण स्तम्भन होजाता है। इन्द्रियां सर्वथा निश्चेष्ट होजाती हैं।

सुषुप्ति एक प्रकार की समाधि है। इसीलिये योगियों की भाषा में सुषुप्ति का नाम जड़-समाधि है। जब योगी आसनस्थ होकर मनोनिग्रह करके अपनी आत्मधारणा से अपने ध्यान को स्थिर समाहित करता है, तो उसकी उस स्थिरता अथवा समाहिति का नाम योगसमाधि है। सुषुप्ति जड़-समाधि है। योगसमाधि चेतन-समाधि है। सोनेवाला जब निद्रा में लीन होता हुआ स्वप्नावस्था को पार करके सुषुप्ति में सुषुप्त होता है, तो मन और मन के संकल्प सुषुप्त होजाते हैं। उसी प्रकार जब आसनस्थ योगी अपनी आत्मधारणा के द्वारा शरीरेन्द्रियों को निश्चेष्ट करके अपनी

वृत्तियों को ध्यानवृत्त पर टिकाकर अपने ध्यान को स्थिर करता है, तो मन और मन के संकल्पों का उसी प्रकार शमन होजाता है, जिस प्रकार सुषुप्ति में होता है।

संकल्प-सुषुप्ति और संकल्प-शमन में केवल एक अन्तर है। संकल्प-सुषुप्ति में मन का आत्म-चेतना से सम्बन्ध कटा रहता है। संकल्प-शमन में मन आत्म-चेतना से आविष्ट रहता है। ध्यानावस्था में संकल्प-शमन की सिद्धि होने पर ध्यानावस्था में विकल्प सर्वथा निरुद्ध रहते हैं। विकल्पों के निरुद्ध रहते हुए चिन्तनों में उत्तेजना नहीं होती। चिन्तनों के अनुत्तेजित रहने से विचार उद्बुद्ध नहीं होते। यही विचारों का स्तम्भन है।

संकल्प की आवश्यकता केवल बाह्य चेष्टाओं के लिये है। बहिर्मुख होकर बाह्य कर्म करने के लिये ही संकल्प का उपयोग है। वृत्ति के बाह्य होने पर ही संकल्प उत्तेजित होकर विकल्पों, चिन्तनों और विचारों की सृष्टियां रचता है। वृत्ति के अन्तःस्थ होने पर संकल्प का शमन होता है, संकल्प अनुद्बुद्ध रहता है। बाह्य के लिये ही संकल्प की आवश्यकता है, अन्तः के लिये नहीं।

जागृति और स्वप्न—इन दो अवस्थाओं में संकल्प सक्रिय रहता है। सुषुप्ति-अवस्था में संकल्प मनसहित सुषुप्त होजाता है। सुषुप्ति-अवस्था में चित्त, मन, बुद्धि तथा ज्ञान-कर्म-इन्द्रियों सहित सारा शरीर सुषुप्त होजाता है। परिणामस्वरूप संकल्प, विकल्प, मनन, चिन्तन और गति—सब सुषुप्त और निश्चेष्ट होजाते हैं। जब सुषुप्ति समाप्त होती है, तो प्रथम

चित्त, मन, बुद्धि सचेत होते हैं और उनके सचेत होते ही मन में संकल्प उठने प्रारम्भ होजाते हैं। संकल्पों के उद्‌बुद्ध होते ही सारी इन्द्रियां सचेत और जागृत होकर विविध प्रकार की गति और चेष्टा करने लगती हैं।

संकल्प-शमन का अभ्यास प्रारम्भ करने से पूर्व साधकों को जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति—इन तीनों अवस्थाओं का साक्षात्कार कर लेना चाहिये। इन तीनों अवस्थाओं का प्रत्यक्ष अनुभव प्राप्त करने के लिये इच्छा-शक्ति का प्रयोग करना होगा। यह समझ लेना चाहिये कि इच्छा-शक्ति आत्मा की उस निष्क्रमक शक्ति का नाम है, जिसके द्वारा वह अपनी सूक्ष्म स्थूल अथवा अन्तः बाह्य इन्द्रियों द्वारा विश्व के मनोमय जगत् में कार्य करती है।

त्रि-अवस्थाओं का स्पष्ट ज्ञान प्राप्त करने की सरल विधि यह है। आप जब भी सोयें, तब ही, प्रथम अपने बिस्तर पर, पुरुष बांयी करवट से और स्त्री दायीं करवट से, नेत्र बन्द करके लेट जायें। फिर अपनी इच्छाशक्ति द्वारा स्वप्न-क्षेत्र को पार करके सुषुप्ति में प्रवेश करने का उपक्रम करें। ऐसा करते हुए आप अपनी इच्छाशक्ति और चित्त की वृत्ति को पूर्णतया यह अनुभव करने में लगायें कि आपकी जागृतावस्था किस प्रकार स्वप्नावस्था में लीन होती है और स्वप्नावस्था किस प्रकार सुषुप्ति में विलीन होती है। इसका नित्य निरन्तर अभ्यास करते करते कुछ काल में आपको प्रत्यक्ष यह अनुभव होजायेगा कि जागृति क्या वस्तु है, जागृति और स्वप्न की सन्धि में क्या स्थिति होती है, स्वप्न क्या वस्तु है, स्वप्न और

सुषुप्ति की सन्धि में क्या स्थिति होती है और सुषुप्ति क्या वस्तु है तथा उसकी क्या स्थिति है।

जब सुषुप्ति में प्रवेश करके उसमें स्थिति रहने तक का प्रत्यक्ष अनुभव होजाये, तब यह साक्षात् करने का अभ्यास कीजिये कि सुषुप्ति से जागृति में किस प्रकार वापस आया जाता है। इसका अभ्यास बहुत सरल है। जब आप सोने लगें तो अपनी दृढ़ इच्छाशक्ति से यह निर्णय करके सोयें कि सुषुप्ति से जागृति की ओर लौटने पर मुझे यह स्पष्ट प्रतीत होना चाहिये कि सुषुप्ति से लौटते हुए सुषुप्ति और स्वप्न की सन्धि पर कैसी स्थिति होती है और स्वप्न और जागृति की सन्धि पर कैसी।

जागृति से सुषुप्ति और सुषुप्ति से जागृति, दोनों प्रकार के अभ्यासों में आप अपनी इच्छाशक्ति और चित्तवृत्ति को यह अनुभव करने पर केन्द्रित रखिये कि प्रत्येक अवस्था और स्थिति में संकल्प की क्या क्या स्थिति रहती है और क्या क्या रूप रहता है।

: २५ :

आत्म-अवस्थिति

आत्म-अवस्थिति के लिये दो अभ्यास हैं—एक जागृति में और दूसरा आसनस्थ होकर समाधि में।

जागृति में प्रति क्षण यह स्मरण रखिये कि आप स्वयं और आपका शरीर दो पृथक् पृथक् सत्तायें हैं। आप आत्मा हैं, शरीर नहीं हैं। आत्मा शरीर का निवासी है, शरीर आत्मा का निवास-स्थान है। आत्मा अभौतिक, अजर, अमर, शुद्ध, पवित्र और दिव्य है। शरीर भौतिक और भस्मान्त है।

आत्मा और शरीर की पृथक् पृथक् प्रतीति के लिये आप जागृति में निम्न सूत्र का मन ही मन सदा आवर्तन करें अथवा इस सूत्र का सदा स्मरण रखें—

अहमिन्द्रो न शरीरम्।

(अहं) मैं (इन्द्रः) आत्मा हूं, (न शरीरं) शरीर नहीं हूं।

इन्द्र का अर्थ है इन्द्रियों का स्वामी आत्मा। इन्द्रियों का समुच्चय ही शरीर कहलाता है। शरीर इन्द्रियरूप है। इन्द्रियों के संघात का नाम ही शरीर है। मैं और मेरा में भेद है। मैं से मेरा और मेरा से मैं सर्वथा भिन्न हैं। मैं मैं हूं। मेरा मेरा है। मैं यह आत्मा हूं। मेरा यह शरीर है। मैं एक हूं। मेरा अनेक है।

अपनी अपेक्षा से, स्वात्मा की अपेक्षा से, मेरा केवल मैं हूं। शरीर की अपेक्षा से ममत्व [मेरापन] का एक असंख्यसूत्री जाल फैला हुआ है। जब तक मैं शरीर में हूं, तभी तक माता मेरी, पिता मेरा, पत्नी मेरी, पति मेरा, पुत्री मेरी, पुत्र मेरा, परिवार मेरा, राज मेरा, पाट मेरा, धन मेरा, भूमि मेरी, न जाने क्या-क्या मेरा। जब मैं शरीर को त्याग देता हूं तो न यह मेरी न यह मेरा, न वह मेरी न वह मेरा।

जन्म और मरण मेरी अपेक्षा से नहीं है, शरीर की अपेक्षा से है। शरीर-धारण का नाम जन्म है और शरीर-त्याग का नाम मरण है। मैं न जन्मता हूं, न मरता हूं। मैं तो अजन्मा और अमरणधर्मा हूं। मेरा न जन्म है, न मरण।

रोग और भोग भी मेरी अपेक्षा से नहीं, शरीर की अपेक्षा से हैं। रोग शरीर में व्यापते हैं, मुझमें नहीं। भोग शरीरेन्द्रियों के विषय हैं, मेरे नहीं। मैं स्वरूप से रोगरहित और भोगरहित हूं।

हर्ष और शोक भी शरीर की अपेक्षा से हैं, मेरी अपेक्षा से नहीं। भोग से हर्ष और रोग से शोक की अनुभूति मुझे मन और बुद्धि के निमित्त से होती है।

मैं स्वयम्भू हूं। मैं स्वयंसत्त हूं। मुझे कभी किसी ने उत्पन्न नहीं किया। मैं स्वयं-जात हूं। मैं सदा से हूं और सदा रहूंगा। कोई समय न था, जब मैं नहीं था। ऐसा समय न होगा, जब मैं न हूंगा। मेरा न भूत है, न भविष्यत्। मैं सदा वर्तमान हूं। काल का व्यवहार मेरी अपेक्षा से नहीं, शरीर की अपेक्षा से है। मैं कालातीत हूं।

गुणों का प्रभाव मेरी अपेक्षा से नहीं, शरीर की अपेक्षा से है। सत् रज तम का सम्बन्ध शरीर से है, मुझसे नहीं। त्रिगुणा-

त्मक यह शरीर है, जो त्रिगुणात्मक प्रकृति से बना है। मैं त्रिगुणातीत हूं। विकार भी शरीर की अपेक्षा से हैं। मैं निर्विकार हूं।

जागृति, स्वप्न और सुषुप्ति-तीनों अवस्थायें शरीर की अपेक्षा से हैं, मेरी अपेक्षा से नहीं। मैं त्रि-अवस्थातीत हूं।

हानि लाभ, ममता परता, मेरा तेरा, सफलता विफलता, जय पराजय, पाप पुण्य, दु:ख सुख का द्वन्द्व शरीर की अपेक्षा से है, आत्मा की अपेक्षा से नहीं।

इस व्याख्या के प्रकाश में सदा स्मरण रखिये और निरन्तर चिन्तन कीजिये—अहमिन्द्रो न शरीरम्।

शरीर में रहते हुए अपने आत्मा को अपने शरीर से सर्वथा सर्वत: सर्वश: पृथक् समझिये।

आत्म-अवस्थिति का यह अभ्यास ज्यों-ज्यों पक्व होता जायेगा, त्यों-त्यों आपका संकल्प-शमन भी उसी मात्रा में पकता जायेगा। अभ्यास करते करते जब आपकी वह स्थिति होगी कि आप स्पष्टतया अपने आत्मा को अपने शरीर से सर्वथा भिन्न और पृथक् अनुभव करने लगेंगे, तब आप देखेंगे कि आपको संकल्प-शमन की सिद्धि प्राप्त होगयी है। इस सिद्धि के सिद्ध होने पर आप आसनस्थ होते ही निमेष मात्र में अपने संकल्प का शमन करके अपने अन्त: में सर्वथा आत्मस्थ अथवा आत्म-अवस्थित होकर पूर्णतया ध्यानस्थ होजाया करेंगे।

इतनी जानकारी और तैयारी के साथ अपने विशिष्ट आसन में आसनस्थ होकर, नेत्र श्रोत्र बन्द करके, ध्यान और समाधि का अभ्यास प्रारम्भ कीजिये। ध्यान के नैरन्तर्य

का नाम ही समाधि है। ध्यान का निर्बाधता के साथ सम्यक् स्थित और स्थिर रहना ही समाधि है।

किसी चक्र या स्थान विशेष पर कभी भूलकर भी ध्यान न जमाइये, अन्यथा कालान्तर में उस चक्र या स्थान पर प्रथम पीड़ा होगी और फिर कोई रोग होजायेगा, जिसके परिणाम-स्वरूप आपके स्वास्थ्य पर तो प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा ही, आपके शरीर में भी अनेक व्याधियां व्याप जायेंगी।

ध्यान जमाने की सरल और स्वाभाविक विधि यह है कि नेत्र बन्द करनें पर बन्द आंखों में जैसा भी धूमल या धवल वर्ण दिखाई पड़े, उसी पर अपना ध्यान केन्द्रित कीजिये। प्रारम्भ में इसी धूमल या धवल वर्ण को ब्रह्म का भर्ग या वर्ण समझकर इसी पर अपना ध्यान स्थिर कीजिये।

आरम्भ से ही ऐसा अनुभव कीजिये कि आसनस्थ होकर नेत्र बन्द करने पर आपकी दर्शन-शक्ति भीतर की ओर उलट-कर हृदयाकाश में प्रविष्ट होगयी है और हृदयाकाश में ही आपको ब्रह्म का धूमल या धवल वर्ण दिखाई देरहा है। —

वक्ष और उदर के मध्य में जो दश अंगुल का गढ़ा है, उसी के भीतर हृदयाकाश है। वेद में इसी हृदयाकाश को ब्रह्म की पुरी कहा गया है। योगी जन इसी को ब्रह्म-सदन [Divine Chamber] कहते हैं। यही आठ चक्रों और नव द्वारों वाली देवों की अयोध्यापुरी का हिरण्य कोश अथवा ज्योति से आवृत स्वर्ग है। इसी में इन्द्र [इन्द्रिओं के स्वामी आत्मा] का दिव्य सिंहासन [अधिष्ठान] है, जिसके सब ओर अप्सरायें [चित्तवृत्तियां और संकल्पजन्य विकल्पधृतियां] नाचती रहती हैं।

आसनस्थ और आत्म-अवस्थित होकर इस प्रकार हृदयाकाश में धूमल अथवा धवल वर्ण पर अपना ध्यान केन्द्रित करके ब्रह्म के वरेण्य भर्ग अथवा आदित्य वर्ण का ध्यान प्रारम्भ कीजिये।

शरीर आदि को सुषुप्त करके आत्मजागरण द्वारा आत्मअवस्थित होजाया करेंगे।

तुर्यावस्थास्थ होने पर आप आत्मख्याति को प्राप्त करके स्वयमेव अनायास ही त्रिगुणातीत होजायेंगे। दिव्य आत्मस्वरूप का अवलोकन करते ही आपका आत्मा तम रज सत्—तीनों गुणों से पृथक् होकर दिव्यता में संस्थित होजायेगा।

तुर्यावस्था की सिद्धि होने पर आपकी आत्मा में आत्म-मुग्धता आजायेगी। आप आत्मना आत्मा में ही तृप्त, तुष्ट और आत्मस्थ रहने लगेंगे। आप आत्माह्लाद, आत्मोल्लास, आत्मवीर्य और आत्मरस से आपूर रहने लगेंगे। आप आप्तकाम होजायेंगे। आप अनासक्त, निर्लेप, निष्काम, निर्विकार, निस्ताप, निष्पाप, निर्द्वन्द्व और वासनारहित होजायेंगे। आपके कर्मफलजन्य संस्कार समाप्त होजायेंगे।

आत्मा की निज दिव्य अवस्था की अवस्थिति ही तुर्यावस्था है।

: २७ :

विराट् का दर्शन

हृदयाकाश को ब्रह्मपुरी, ब्रह्मसदन, हिरण्य कोश और ज्योतिषावृत स्वर्ग के अतिरिक्त परम व्योम भी कहते हैं। व्योम नाम आकाश का है। इससे आगे हृदयाकाश के लिये परम व्योम का प्रयोग किया जायेगा।

यह जो आकाश है, जिसमें अखिल ब्रह्माण्ड गति कररहा हैं, वह तो साधारण व्योम है। दशांगुल हृदयाकाश परम व्योम है, क्योंकि उसमें परम सत्ता का, परम आत्मा [परमात्मा] का, परम ब्रह्म का, साक्षात्कार होता है। ब्रह्म के सर्वत्र समान रूप से व्यापक और प्रकाशित होने पर भी ब्रह्म का साक्षात्कार परम व्योम में ही क्यों होता है? इसलिये कि द्रष्टा आत्मा परम व्योम में निवास करता है। परम व्योम आत्मा का अधिष्ठान है। दर्शन वहीं होगा, जहां द्रष्टा स्थित है।

परम व्योम में स्थित द्रष्टा [आत्मा] को स्वरूप का दर्शन और उसकी स्वरूप में अवस्थिति किस प्रकार होती है, यह बताया जा चुका है।

आत्मस्थ होकर आत्मदर्शनपूर्वक अब आप आत्मना ब्रह्म के वरेण्य भर्ग का ध्यान कीजिये। ध्यान को नितान्त स्थिर और निश्चल करके अपने सम्पूर्ण चिन्तन और अपनी सम्पूर्ण चेतना को परम व्योम में केन्द्रित करके अन्तरतम में निहित

ब्रह्म के दिव्य स्वरूप में आत्मधारणा द्वारा प्रवेश करने का समारम्भ कीजिये।

आत्म-अवस्थित होकर आत्मना वरेण्य भर्ग का ध्यान करते हुये अब आपकी समस्त धारणाओं में दिव्य देव की दिव्य दिव्यता का उसी प्रकार संचार होरहा है, जिस प्रकार अग्नि में समर्पित अथवा प्रविष्ट हुये कोयले में अग्नि का संचार होता है।

आत्मना ब्रह्म के वरेण्य भर्ग का ध्यान करते करते एक ऐसी स्थिति आयेगी कि नेत्र, श्रोत्र और ओष्ठ बन्द करके ज्यों ही आप ध्यानावस्था में आत्म-अवस्थित होकर ध्यान में स्थित हुआ करेंगे, त्यों ही आपके परम व्योम में ऊपर से एक अलौकिक प्रकाश का अवतरण और नीचे से एक अलौकिक ज्योति का आरोहण हुआ करेगा। वह ज्योति उस प्रकाश में विलीन होजाया करेगी और तब आपके परम व्योम में एक अलौकिक श्वेत प्रकाश आच्छादित होजाया करेगा।

ऊपर से अवतरित होनेवाला वह प्रकाश ब्रह्म के वरेण्य भर्ग की छटा है और नीचे से आरोहित होनेवाली वह ज्योति आपके अपने आत्मा की आभा है।

इस स्थिति की प्राप्ति पर आप अपने आत्मा को उस अलौकिक श्वेत प्रकाश में समाहित करके अपनी आत्मधारणा को केन्द्रित कीजिये और उस श्वेत प्रकाश के सूक्ष्म आवरण को चीरते हुए ब्रह्म के वरेण्य भर्ग का ध्यान किये जाइये।

अलौकिक श्वेत प्रकाश में संस्थित होकर यों आत्मना वरेण्य भर्ग का ध्यान करते करते वह स्थिति आयेगी, जिसमें आपके परम व्योम में आपको ब्रह्म के विराट् स्वरूप का दर्शन

होगा। जिस प्रकार आंख के तिल में असंख्य नक्षत्र, सूर्य, चन्द्र, द्यौ, अन्तरिक्ष, आदि लोकलोकान्तर दिखाई पड़ते हैं, उसी प्रकार आपके परम व्योम में अलौकिक शीतल शान्त श्वेत प्रकाश छटक रहा होगा और उसमें ब्रह्ममय अखिल ब्रह्माण्ड ब्रह्मरूपता के साथ अपने पूर्ण और स्पष्ट आकार में अस्फुट होकर दिखाई दे रहा होगा। ऐसा प्रतीत होगा, मानों ब्रह्म माया की सजीली सुन्दर पोषाक पहने सजा खड़ा है। वह एक ऐसा मोहक समाँ और एक ऐसा मनोहर दृश्य होगा, जिसमें आप अनायास ही अपने आपको भूल जाया करेंगे और अपने ध्यान की निर्धारित अवधि के अन्त तक आप उस दृश्य में आश्चर्यचकित हुये आत्म-एकाग्रता के साथ समाहित रहा करेंगे। ध्यान के समाप्त होने पर आप ऐसा अनुभव करेंगे कि जैसे आप एक परम दिव्य लोक से उतर कर नीचे मर्त्य लोक में आगये हैं।

। २८ ।

साक्षात्कार

आसनस्थ होकर ध्यानावस्था में अब आपको विराट् का दर्शन होता है। अपने ध्यान को और अधिक स्थिर करके अपनी सम्पूर्ण चेतना के साथ विराट् से आगे बढ़िये।

वरेण्य भर्ग का ध्यान करते करते समयान्तर में आपकी अन्तःदृष्टि से विराट् का सर्वथा लोप होजायेगा और ऐसा होते ही आपका आत्मा नितान्त विशुद्ध आदित्य वर्ण वरेण्य भर्ग में प्रविष्ट होगा, उस आदित्य वर्ण वरेण्य भर्ग में, जिसे "सनातन दिव्य सौन्दर्य" कहते हैं, जो ब्रह्म का निज प्रकाशमय सौन्दर्य है, वह सौन्दर्य, जिसकी छटामात्र से यह सब सुन्दर होरहा है और यह सारा सौन्दर्य जिस सौन्दर्य की आभामात्र है।

परम व्योम में जब आपका आत्मा उस आदित्य वर्ण वरेण्य भर्ग में ध्यानस्थ रहने लगेगा, तो यथासमय आपकी समस्त धारणाओं में दिव्यता का संचार होजायेगा और आपकी धारणायें नितान्त दिव्य होजायेंगी।

आपकी दृष्टि दिव्य दृष्टि होजायेगी और अपनी दिव्य दृष्टि से आपको उस दिव्य देव का, उस परब्रह्म का, साक्षात्कार होगा, जो परम अनन्त असीम सत्ता है और यस्य भासा सर्वमिदं, विभाति, जिसकी ज्योति से यह सब ज्योतित होरहा है, जिसकी द्युति से यह सब द्योतित होरहा है, जिसके प्रकाश